प्रकाशक

आर्य साहित्य मंडल लिमिटेड, अजमेर.

॥ ओ३म् ॥

धर्म का आदि-स्रोत

[संसार के मुख्य-मुख्य मतों पर तुलनात्मक विचार और उनके वेद-मूलक होने का प्रतिपादन]

श्री पं० गंगाप्रसादजी एम० ए०
रिटायर्ड चीफ जस्टिस, टिहरी गढ़वाल राज्य
तथा
भूतपूर्व प्रधान, आर्य सार्वदेशिक सभा, देहली
द्वारा
रचित

THE FOUNTAIN-HEAD OF RELIGIONS

का

हिन्दी अनुवाद

(संशोधित व परिवर्द्धित नवीन संस्करण)

अनुवादक :
श्री डॉ० हरिशंकर शर्मा

प्रकाशक :
आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड
श्रीनगर रोड, अजमेर

मूल्य : १२ रु०

नवमावृत

प्रकाशक :
आर्य साहित्य मण्डल लिमिटेड, अजमेर

मुद्रक :
श्री शिरीश चन्द्र शिवहरे, एम. ए., दी फाईन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर

विषय-सूची

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

❀ ओ३म् ❀

प्रथम संस्करण की भूमिका

दस वर्ष से अधिक समय हुआ जब इस पुस्तक के लिये सामग्री एकत्रित की गई थी और उसी समय चार अध्याय भी लिखे गये थे। परन्तु विशेषतः अवकाशाभाव से पुस्तक अपूर्ण पड़ी रही। कोई तीन वर्ष हुए जब कतिपय मित्रों के अनुरोध से मैंने उसको समाप्त किया और तब वह गुरुकुल काँगड़ी के 'वैदिक मेगज़ीन' में क्रमशः छपी। अब वह वर्त्तमान आकार में प्रकाशित की जाती है। मेरी अभिलाषा थी कि मैं पहले चार अध्यायों को नये सिरे से लिखता परन्तु समय न मिलने के कारण यह सम्भव न हो सका और उन पर कुछ अधिक पुनर्विचार न कर सका।

यह पुस्तक मौलिक होने का दावा नहीं करती। बहुत कम बातें मेरी अपनी हैं। यह पुस्तक ज़िन्दावस्ता, बाइबिल, कुरान तथा अन्य विविध मत सम्बन्धी अनेक पुस्तकों के उद्धरणों से भरी हुई है। प्रतिपाद्य विषय और अन्वेषणशैली के विचार से अवतरणों का उद्धृत करना अनिवार्य था। दो मतों के बीच विचार-साम्य दिखाकर उनके मध्य सम्बन्ध स्थापित करने को समानता के जितने उदाहरण उपलब्ध हो सके उतनों का देना आवश्यक है। वास्तव में समानताओं की संख्या जितनी अधिक होगी, तर्क उतना ही दृढ़ और विश्वासप्रद होगा। इस पुस्तक में अन्य ग्रन्थकारों के ग्रन्थों से भी अनेक उद्धरण दिये गये हैं। इसका कारण यही है कि कुछ विषयों पर मेरी निज की सम्मति अप्रमाणित प्रत्युत प्रगल्भतायुक्त प्रतीत होती। यह कारण न होता तो मैं पाठकों पर इतने अधिक अवतरण और उद्धरणों का भार कदापि न डालता। संसार के विभिन्न मतों की परस्पर तुलना करने में मैंने स्वतन्त्रतापूर्वक उन पुस्तकों से लाभ उठाया है जिनका मुझे ज्ञान था। मुसलमानी मत का यहूदी मत से मिलान करने में मैंने अधिकांश में डाक्टर सेल का अनुगमन किया है और प्रथम अध्याय के प्रायः प्रत्येक पृष्ठ के लिये मैं उनका आभारी हूँ। बौद्ध मत का ईसाई मत पर प्रभाव दिखाने में श्रीयुत् रमेशचन्द्रदत्त के 'प्राचीन भारतीय सभ्यता' (Civilization in Ancient India) नामक ग्रन्थ से अधिक सहायता ली है। परन्तु यहूदी मत ज़रदुश्ती मत से और उसका वैदिकधर्म से मिलान करने में मैं किसी पुस्तक विशेष पर अवलम्बित नहीं रहा हूँ।

अन्तिम अध्याय में ज़रदुश्ती मत और वैदिक-धर्म की तुलना करते हुए अनेक विषयों पर जिनकी ओर मेरा ध्यान आकर्षित हुआ, वैदिक शिक्षा का कुछ विस्तारपूर्वक वर्णन करने का अवसर मिल गया, जिसके कारण वह अध्याय औरों की अपेक्षा कुछ बढ़ गया।

जैसा कि पाठकों को ज्ञात हो जायगा, इस ग्रन्थ का उद्देश्य किसी विशेष मत या मतों पर तीव्र आलोचना अथवा कटाक्ष करना नहीं है किन्तु सब मतों का मूल वेदों को सिद्ध करके उनसे परस्पर सम्बन्ध प्रकट करना है।

अन्त में प्रार्थना है कि यदि पुस्तक में कोई अशुद्धि या त्रुटि रह गई हो तो उसके लिए पाठकगण कृपया क्षमा करेंगे।

३-२-१९०९

—गंगाप्रसाद

दूसरे संस्करण की भूमिका का कुछ भाग

जनता ने पुस्तक का जैसा स्वागत किया मैं उससे संतुष्ट हूँ। पहले संस्करण की छपी हुई लगभग सब प्रतियां वर्ष भर में बिक गईं।

पुस्तक की कतिपय धार्मिक तथा अन्य पत्रों ने आलोचना की है।

कलकत्ता के (Epipheny) एपीफेनी नामक साप्ताहिक ईसाई पत्र में २ अप्रैल १९१० के अंक में एक उत्तम आलोचना प्रकाशित हुई—आरम्भ में लेखक ने यह लिखा कि सेमेटिक मतों में यहूदीमत का ईसाई व मुस्लिम मतों से सम्बन्ध स्पष्ट और सर्वविदित है, इसी प्रकार आर्य्य धर्मों में वैदिक धर्म का सम्बन्ध बौद्ध व ईसाई धर्मों के साथ भी स्पष्ट ही है। परन्तु यहूदी व ज़रदुश्ती मतों के बीच का सम्बन्ध सिद्ध करना बहुत कठिन है। लेखक का यह तर्क युक्त ही है, इसीलिये पुस्तक में यहूदी मत के साथ ज़रदुश्ती मत का सम्बन्ध दिखलाने में विशेष प्रयत्न किया गया है। ईश्वर का विचार, उसके प्रमुख नाम, ईश्वर व शैतान दो शक्तियों का सिद्धान्त, फरिश्ते व उनके नाम, सृष्टि व प्रलय के सिद्धान्त, स्वर्ग व नरक इत्यादि सभी यहूदी मत के मुख्य सिद्धान्तों का उद्गम पारसी मत से होना दिखलाया गया है। फिर यहूदी मत में क्या रह जाता है जिसके लिये वह स्वतन्त्र उत्पत्ति का दावा कर सके?

आलोचना के अन्त में लेखक ने एक प्रकार से यह स्वीकार कर लिया है कि वेदों में ईश्वरीय ज्ञान के कुछ भाग का होना अतिसंभव है। वे लिखते

हैं—"मनुष्य जाति की उत्पत्ति के आरम्भ से ईश्वर समय समय पर संसार व आत्माओं व दैवी प्रकाशन के द्वारा अपने स्वरूप को व्यक्त करता रहा है। फिर इसमें क्या आश्चर्य है कि कई जातियों में ऐसे मनुष्य हुए जिन्होंने उस प्रकाश को कुछ अंश में पाया और फैलाया। ईश्वर के ज्ञान व उपदेश नित्य और अपरिवर्तनीय हैं। इसलिये उसके ज्ञान का प्रकाश जहां तक वह ठीक दिया गया हो, सब स्थानों में एक समान ही होगा।...... हम यह मान सकते हैं कि जिस प्रकार ईश्वर ने यहूदियों में कुछ दूत चुने उसी प्रकार भारतवर्ष में भी कुछ आत्माओं को आध्यात्मिक ज्ञान का मूल देने के लिये चुना, परन्तु यहूदी लोगों और उनके सन्तान में वह ईश्वरीय ज्ञान अधिक स्पष्ट और सम्भवतः अधिक सत्य रूप में मिलेगा।"

१४-६-११ **गंगाप्रसाद**

अनुवाद की भूमिका

यह पुस्तक प्रथम अंग्रेजी भाषा में सन् १९०९ में छपी थी। सन् १९१२ में दूसरा और सन् १९१६ में तीसरा संस्करण छापा गया। पुस्तक का सर्वसाधारण ने जैसा मान किया उससे मैं कृतकृत्य हूँ। भारतवर्ष के अतिरिक्त योरुप, अमरीका और अफ्रीका में भी पुस्तकें गईं।

मेरे एक मित्र मौलवी अबूअबदुल्ला मुहम्मद जकाउल्लाखां, एम० ए० ने पुस्तक के कुछ भागों की आलोचना करते हुए **'मुस्लिम रिव्यु'** नामक पत्र में कतिपय लेख छपवाये थे, जिनका उत्तर मैंने **'वैदिक मेगज़ीन'** में दिया था। अंग्रेजी के तीसरे संस्करण में ये सब उत्तर भी पुस्तक के अन्त में छाप दिये गये हैं और **'इन्डियन विटनैस'** नामक एक ईसाई पत्र की आलोचना के भी उत्तर दिये गये हैं। इन सबको इस अनुवाद के साथ छपवाना उचित नहीं समझा गया क्योंकि मूल लेख भी जिनके वे उत्तर हैं केवल अंग्रेजी में ही छपे हैं और उनका अनुवाद छापने से पुस्तक बहुत बढ़ जाती।

मेरे परम मित्र पं० घासीराम जी, एम० ए०, एल-एल० बी०, मेरठ, ने मूल पुस्तक का उर्दू में अनुवाद किया जो श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा की ओर से छप चुका है। आर्यभाषा (हिन्दी) में अनुवाद के लिये आरंभ से ही कई विद्वानों ने इच्छा प्रकट की थी किन्तु मेरे एक योग्य मित्र का विचार स्वयम् हिन्दी-अनुवाद करने का था, उनके अनुरोध से किसी को

आज्ञा नहीं दी गई। परन्तु कुछ कारणों से उक्त मित्र अपना विचार पूर्ण न कर सके। अब श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा ने **'आर्य्यमित्र'** आगरा के योग्य सम्पादक पं० हरिशकर शर्मा से पुस्तक का अनुवाद कराया है जो पाठकों की भेंट होता है। मैंने इसको आदि से अन्त तक देखकर मूल के अनुकूल शुद्ध कर दिया है तथापि जो भूल व त्रुटि रह गई हो, आशा है कि पाठकगण उनके लिये क्षमा प्रदान करेंगे।

आगरा

१७-११-१७

—**गंगाप्रसाद**

अनुवाद के तृतीय संस्करण की भूमिका

हिन्दी का पहला संस्करण अंग्रेजी पुस्तक के तीसरे संस्करण का अनुवाद था। अंग्रेजी के चतुर्थ संस्करण में कुछ विषय बढ़ाया गया था। हिन्दी के दूसरे संस्करण में उसके अनुकूल संशोधन कर दिया गया था।

इस तीसरे संस्करण में युद्ध के कारण कागज मिलने की अत्यन्त कठिनाई होने से पुस्तक के आकार में कुछ थोड़ी कमी की गई।

अंग्रेजी के दूसरे संस्करण की भूमिका का अनुवाद छोड़ दिया गया है। चतुर्थ अध्याय के पहिले व दूसरे अंशों में कुछ ऐसी बातें कम कर दी गई हैं जो बहुधा हिन्दी पाठकों के लिये अनावश्यक प्रतीत हुईं। आशा है इससे पुस्तक की उपयोगिता में कोई कमी नहीं होगी।

५-६-१६४४

—**गंगाप्रसाद**

अनुवाद के पंचम संस्करण की भूमिका

अनुवाद का चतुर्थ संस्करण तृतीय संस्करण के ही अनुरूप था। विश्वयुद्ध के समय कागज मिलने में कठिनाई होने के कारण तृतीय संस्करण में जो कमी की गई थी वह इस पंचम संस्करण में कुछ अंश में पूर्ण करदी गई है।

—**गंगाप्रसाद**

अनुवाद के षष्ठ संस्करण की भूमिका

अनुवाद का यह षष्ठ संस्करण पंचम संस्करण के ही अनुरूप है। पुस्तक का सर्वसाधारण ने जैसा मान किया है उससे मैं कृतकृत्य हूँ।

१२-६-१९६४ —गंगाप्रसाद

अनुवाद के सप्तम संस्करण की भूमिका

अनुवाद का यह सप्तम संस्करण षष्ठम संस्करण के ही अनुरूप है। पं० गंगाप्रसाद जी का अब स्वर्गवास हो चुका है। पुस्तक की विशेष मांग होने के कारण यह नवीन संस्करण प्रकाशित किया गया है।

१-४-१९७२ —प्रकाशक

अनुवाद के अष्टम संस्करण की भूमिका

अनुवाद का यह अष्टम संस्करण सप्तम संस्करण के ही अनुरूप है। इस पुस्तक का आज भी विशेष महत्व है व मांग है अतः इसका यह नवीन संस्करण प्रकाशित किया गया है।

१-६-१९८२ —प्रकाशक

अनुवाद के नवम संस्करण की भूमिका

अनुवाद का यह संस्करण अष्टम संस्करण के अनुरूप ही है। इस पुस्तक का आज पहले से भी अधिक महत्व है व मांग होने के कारण यह नवीन संस्करण प्रकाशित किया गया है।

१४-१-१९८७ —प्रकाशक

——

ओ३म्

धर्म का आदि-स्रोत

उपोद्घात

धर्म का मूल ईश्वर है

धर्म का उत्पत्ति-स्थान क्या है ? किसी मत विशेष का नहीं प्रत्युत उस धर्म का मूल क्या है जिसके अवान्तर रूप से विविध प्रकार के मत विद्यमान हैं। साधारणतया इस प्रश्न के दो उत्तर हैं :— (१) यह कि धर्म का मूल ईश्वर है और (२) यह कि उसकी उत्पत्ति मनुष्य से है। प्रथम विचार इस बात की उपेक्षा नहीं करता कि वर्त्तमान धर्मों के विकास और वृद्धि पर मनुष्यों का, उनके जातीय इतिहास और देश की भौगोलिक अवस्था तक का बड़ा प्रभाव पड़ा है। केवल इस बात पर बल दिया है कि धर्म का आदि मूल कारण ईश्वर है।

यह पुस्तक इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर पूर्णरूपेण मीमांसा करने की प्रतिज्ञा नहीं करती। इसका उद्देश्य संसार के मुख्य २ मतों के मिलान और अनुशीलन से केवल यह सिद्ध करना है कि नवीन मतों का पता पुराने मतों से और इन पुराने मतों का पता और अधिक प्राचीन मतों से चल सकता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर पता लगाते हुए हम मनुष्य जाति के प्राचीनतम पवित्र धर्म तक पहुंच जाते हैं। मतों के परस्पर मिलान पूर्वक अनुशीलन से यह सिद्ध हो जायगा कि वास्तव में धर्म की सीमा के अन्तर्गत किसी प्रकार का नया आविष्कार कभी नहीं हुआ। धर्म के मुख्य सिद्धान्त जिन्हें उसका सार कहना चाहिये उतने ही पुराने हैं जितनी की मानव जाति। इससे सिद्ध होता है कि सृष्टि के आरम्भ-काल में परमेश्वर ने धार्मिक ज्ञान का बीज मनुष्य के लिये दिया था। और यही धर्म-ज्ञान का बीज मानव जाति के ग्रन्थ-भण्डार की सर्व-सम्मत प्राचीनतम पुस्तक वेद में पाया जाता है।

कोई इस आस्तिक बात को स्वीकार करने में संकोच न करेगा कि एक अर्थ में ईश्वर सम्पूर्णज्ञान का मूल कारण है। परन्तु धार्मिकज्ञान के सम्बन्ध

में यह बात विशेष रूप से सत्य है। पश्चिमीय तत्वज्ञान के प्रथम आचार्य देकार्त्त (Descartes) साहब ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान के विषय में लिखते हैं कि "जितना ही अधिक मैं सोचता हूँ उतना ही मेरा यह विश्वास है कि यह विचार मेरे मन से उत्पन्न नहीं हुआ, अधिकतर गम्भीर हो जाता है। परमेश्वर अनन्त है और मेरी आत्मा सान्त है। परमेश्वर स्वतन्त्र है और मेरी आत्मा परतन्त्र है, इत्यादि। अतएव यह स्पष्ट है कि मैं इस ज्ञान का उत्पादक नहीं हो सकता। इसमें सन्देह नहीं कि इस ज्ञान की छाप स्वयं परमेश्वर ने मनुष्य की आत्मा पर लगाई है।" इन विचारों में बहुत कुछ सत्य है जो इस बात से प्रकट है कि हमारा ईश्वर तथा उसके स्वभाव और गुण विषयक ज्ञान अन्य प्रकार के ज्ञानों के सदृश नहीं है। उसमें और ज्ञानों के समान, परिवर्त्तन वा उन्नति नहीं हो सकती। हमें इस बात का ज्ञान है कि ईश्वर न्यायकारी, श्रेष्ठ, दयालु, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, अनन्त और सर्वव्यापक है, इत्यादि। परन्तु ऐसा कोई समय न था जब इन गुणों में से किसी एक का भी ज्ञान मनुष्य को न रहा हो। प्राचीन ऋषिगण ईश्वर की उपासना उसे इन गुणों से युक्त जानकर करते थे। अर्वाचीन विज्ञानवेत्ता या धर्मोपदेष्टा इससे अधिक और किन गुणों के ज्ञान का अभिमान कर सकते हैं? अन्य विषयों पर हमारा ज्ञान उत्तरोत्तर वृद्धि करता चला जाता है परन्तु ईश्वर विषयक हमारी अभिज्ञता एक ही स्थान पर स्थित है। अतएव यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि कालचक्र कितना ही क्यों न चले—पदार्थ-विज्ञान अब से भी अधिक शीघ्रता के साथ उन्नत्ति-पथ पर चाहे जितना चौकड़ी भरे—भौतिक पदार्थों के विषय से हम कितने ही आश्चर्यपूर्ण नूतन आविष्कार करलें परन्तु वह समय आना संभव नहीं जब मनुष्य ईश्वर के सम्बन्ध में कोई नवीन बात जानने के योग्य होगा। यह सम्भव है कि हम लोग ईश्वरीय गुणों के सम्बन्ध में अब से अधिक उत्तम ज्ञान प्राप्त करलें अथवा उसको पूर्णतया अनुभव करने में समर्थ हों परन्तु परमेश्वर का कोई नवीन गुण खोजने वा जानने के योग्य हम कदापि नहीं हो सकते। कारण यह है कि ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान मनुष्यों के मस्तिष्क से उत्पन्न नहीं हुआ।

जैसा ईश्वर के ज्ञान विषयक यहाँ लिखा गया है वैसा ही समस्त धर्म-ज्ञान के विषय में समझना चाहिये। धर्म-ज्ञान की सीमा में न तो कभी कोई वास्तविक नवीन अन्वेषण की गई और न की जा सकेगी। मैडम एच० पी० ब्लैवस्टकी का यह विचार यथार्थ है—

"अनेक बडे विद्वानों का कथन है कि आर्य, सामी, या तूरानियों में ऐसे किसी धर्म संस्थापक का प्रादुर्भाव नहीं हुआ जिसने किसी नवीन धर्मतत्त्व को निकाला हो अथवा कोई नूतन ज्ञान प्रकाशित किया हो। इन समस्त आचार्यों ने धर्म-ज्ञान को पाकर केवल उसका प्रचार किया है। वे कोई आदिगुरु नहीं थे। इसलिए डाक्टर लेंग *कनफूश्यस को 'धर्मनिर्माता' न कहकर धर्म-प्रचारक बताते हुए उसके वचन लिखते हैं कि "मैं केवल प्रचार करता हूँ, कोई नवीन बात उत्पन्न नहीं करता, प्राचीन पुरुषाओं पर मेरा विश्वास है अतएवं मैं उनसे प्रेम करता हूँ।" (प्रो० मैक्समूलर के 'साइन्स आफ़ रिलीजन' से उद्धृत)।

प्रोफेसर मैक्समूलर का कथन है कि "सृष्टि-उत्पत्ति के आरम्भ काल से कोई भी ऐसा धर्म नहीं हुआ जो सर्वथा नूतन हो"।[2]

इन विचारों से हम यही स्थिर करते हैं कि इस संसार में धार्मिक ज्ञान के उत्पत्ति स्थान का पता लगाने के लिये हमको ईश्वर की ओर जाना पड़ता है अथवा दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अन्ततोगत्वा **धर्म की उत्पत्ति ईश्वर से है।**

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या धर्मों के समस्त भेद समान रूप से ईश्वरीय हैं ? क्या संसार भर के परस्पर-विरोधी समस्त मत समान रूप से सत्य हैं ? इसके उत्तर में हम 'हाँ' और 'ना' दोनों का उपयोग करते हैं। वर्त्तमान समय में जितने मत मतान्तर हैं उनमें ईश्वरीय ज्ञान और मानवीय भूल दोनों का मिलाव पाया जाता है। किन्तु विचारपूर्वक तुलना करने से प्रकट हो जायगा कि उनमें जो सार है उसका मूल वेद है। उनमें बहुत सी बातों में भेद है तो भी ऐसे सिद्धान्त और सत्य हैं जो उन

* चीन देश का सबसे प्रसिद्ध और प्राचीन धर्म-शिक्षक 'कनफूश्यस' (Confucious) था।

1. देखो Secret Doctrine, Vol. I, Introduction pp XXXVII VII.
2. देखो Chips from Garman Workshop, Vol. I, Preface p X.
3. इसी प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ 382 पर लिखते हैं :—

"जिस बात में यह सहस्र एक मत हैं वह वेदमत ग्राह्य है और जिसमें परस्पर विरोध हो वह कल्पित, झूठा, अधर्म, अग्राह्य है।"

सब में अथवा बहुतों में समान हैं। ये समान सत्य बातें और सिद्धान्त वेदों से निकले हैं और बहुधा वे बातें भी जिन पर इन मतों में इतना अधिक भेद प्रतीत होता है, वास्तव में एक ही प्रकार की पाई जावेंगी। जो बाह्य भेद दिखाई देता है उसका कारण यह है कि जिस वैदिक उपदेश के ऊपर उनकी नींव है उसके समझने में भेद, भ्रम वा भूल हुई है।

अब हम यह सिद्ध करने के लिये आगे बढ़ते हैं कि वेद ही समस्त धर्मों का मूल कारण है। यही वह स्रोत है जिससे धार्मिक ज्ञान की धारा जरदुश्ती, यहूदी, बौद्ध, ईसाई और मुसलमानी मतों की नदियों में होकर बही है। हम उपर्युक्त पाँच प्रधान धर्मों पर ही विचार करेंगे। संसार के अन्य मत साधारणतः उन्हीं में से एक या दो पर अवलम्बित हैं। जैनमत* बौद्ध धर्म का रूपान्तर मात्र है। कबीर, नानक और दादू पन्थ अधिकांश में हिन्दू-धर्म और किसी अंश में मुसलमानी मत पर स्थित हैं। ब्राह्म धर्म की उत्पत्ति हिन्दू धर्म और ईसाई-मत से है। इसी प्रकार अन्य छोटे-छोटे मतों के संबंध में समझना चाहिए।

इन विविध मतों की उत्पत्ति कैसे हुई? धर्मों के मिलान और अनुशीलन से ज्ञात होता है कि जब कभी पुरोहितों के स्वार्थ अथवा सर्वसाधारण के अज्ञानवश धर्म के किसी महत्वपूर्ण अङ्ग का ह्रास और लोप हो जाता है तब कोई महान् आत्मा प्रकट होकर उसका बल पूर्वक प्रचार करता है, जिसके कारण धर्म का मैल दूर होकर वह अपनी पूर्व दीप्ति के साथ चमकता है।

उस प्रकार प्रत्येक **नवीन धर्म** प्रारम्भ में किसी प्राचीनतर धर्म की तत्कालीन दशा का संशोधन करने को और उसके अनुचित उपयोगों का विरोध करने को उत्पन्न हुआ। इस प्रकार हम दिखलावेंगे कि जब वैदिक ईश्वरवाद में अनेक देवताओं की पूजा का प्रवेश हो रहा था, उस समय

*जैनमत व बौद्ध धर्म में बहुत थोड़ा भेद है। दोनों धर्मों के मुख्य 2 सिद्धान्त एक ही हैं। परन्तु एक का दूसरे के साथ क्या सम्बन्ध है? इस विषय में विद्वानों के मध्य मतभेद है। कुछेक के कथनानुसार जैन धर्म बौद्ध धर्म की शाखा है। दूसरे लोग कहते हैं कि यह उसका समकालीन धर्म है और दोनों की उत्पत्ति एक प्रकार के कारणों से हुई जो उस ऐतिहासिक समय में विद्यमान थे। यदि हम पिछली बात को ही मान लें जो ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक युक्त भी है तो जैन धर्म के सिद्धान्तों का वेदों से उसी प्रकार पता लग सकता है जिस प्रकार बौद्धमत सम्बन्धी सिद्धान्तों का।

स्पितामा ज़रदुश्ती का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने केवल एक ईश्वर की उपासना का उपदेश दिया, और अनेक देवताओं की पूजा का खण्डन किया। इसी प्रकार जब पीछे वैदिक धर्म की अवनति के कारणरूप ऐसे कर्म्म (यज्ञ के नाम से) किये जाने लगे जिनमें निरपराध पशुओं का अन्धाधुन्ध संहार होता था, जब मनुष्यमात्र की धार्मिक समानता के स्थान में अन्याययुक्त जातिभेद फैल गया था, उस समय गौतम बुद्ध का आविर्भाव हुआ जिन्होंने पवित्र जीवन का उपदेश किया, तथा पददलित शूद्र और वाक्हीन पशुओं की ओर से हृदयग्राही अपील की। जिस प्रकार बुद्ध ने अपने समय में वैदिकधर्म का सुधार करने का उद्योग किया, उसी प्रकार ईसामसीह, यहूदीमत का पुनः संस्कार करने को यत्नवान् हुए। जब ईसाई-मत पतित होकर मिथ्या विश्वास और मूर्ति-पूजा के ढकोसलों में फँस गया उस समय मुहम्मद साहब अपने प्रबल एक-ईश्वरवाद के प्रचारार्थ आये। यही बात अन्य धर्म-प्रवर्त्तकों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। उदाहरणार्थ हमारे देश में ही कबीर, नानक, दादू और चैतन्य-संशोधक हुए, जिनका उद्देश्य अपने समय के अवनत हिन्दू-धर्म को मिथ्या विश्वास, मूर्तिपूजा और अनेक वेद वा बहुईश्वरवाद के दोषों से शुद्ध करना था। इस प्रकार ये समस्त धर्माचार्य (चाहे उन्हें पैगम्बर कहिए) वास्तव में संशोधक थे। इन सभी ने अपनी-अपनी शैली से भलाई करने और उस समय के वर्त्तमान धर्मों को उन्नत बनाने का प्रयत्न किया। किन्तु उनमें से कोई भी सनातन वैदिक धर्म की श्रेष्ठतम पवित्रता की समानता नहीं कर सका।

छः मुख्य धर्मों का समय-निरूपण

मुसलमानी, ईसाई, बौद्ध, यहूदी, ज़रदुश्ती और वैदिक धर्म

पाठकों को यह बताने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त धर्म समयक्रम से लिखे गये हैं। उदाहरणार्थ बौद्धधर्म ईसाईमत से और ईसाईमत मुसलमानी मत से पुराना है, इसे हर कोई जानता है। इसी प्रकार यह भी निश्चित है कि वैदिक धर्म, ज़रदुश्तीमत से पुराना है और जरदुश्तीमत यहूदीमत से पूर्व का है। पर यह बात उतनी सुपरिचित नहीं है, अतएव यहाँ इन तीनों धर्मों की पारस्परिक कालनिरूपण मीमांसा में दो एक शब्द कहना अनुचित न होगा।

बाइबिल के अनुसार हज़रत मूसा का जन्म जो पंजनामे* के रचियता बताये जाते हैं, सन् ईसवी से १५७१ वर्ष पूर्व हुआ था, और ईसा से १४६१ वर्ष पूर्व उन्हें ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुआ। इस प्रकार यहूदियों की प्राचीनतम पुस्तक सन् ईसवी से १४६१ वर्ष पूर्व से अधिक पुरानी होने का दावा नहीं कर सकती। और यदि हम पंजनामे का लेखक हज़रत मूसा को मानें तो हमें यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि **एजरा** ने उसका संकलन सन् ईसवी से केवल ४५० वर्ष पूर्व किया (देखो अध्याय ४ अंश २)।

पंजनामे की अपेक्षा ज़न्दावस्ता[1] अधिक पुराना ग्रन्थ है। डा० स्पीगल के अनुसार ज़रदुश्त, अब्राहम के समकालीन थे, जो सन् ईसवी से १९०० वर्ष पूर्व हुए। इस प्रकार उनका काल मूसा से ४०० वर्ष पूर्व सिद्ध होता है। डा० हांग (Dr. Hang) कहते हैं कि प्रथम शताब्दि का प्लिनी नामक सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता इससे बढ़कर ज़रदुश्त का समय मूसा से कई सहस्र वर्ष पूर्व बताता है। (देखो Historia Naturalis XXX, 2) आगे चलकर हाँग साहब कहते हैं कि बैबीलोन का प्रसिद्ध इतिहासज्ञ बीरोसस उसे बैबीलोन के लोगों का सम्राट् और उनके परिवार का परिवर्त्तक ठहराता है, जिन्होंने कि सन् ईसवी से पूर्व २२०० और २००० वर्ष के मध्य राज्य किया। पारसियों के पवित्र ग्रंथों का वर्णन करते हुए डा० हाँग एक स्थान पर लिखते हैं :—मूसा के समय (ईसा से १५६० वर्ष पूर्व से लेकर तलमूदी साहित्य के अन्त (सन् ९६० ई०) तक यहूदियों के पवित्र ग्रंथों की

---

*बाइबिल के सबसे प्राचीन और प्रथम ५ अध्यायों का नाम पंजनामा है। यह यहूदी और ईसाई दोनों की धर्म-पुस्तक है।

[1] पारसियों की धर्म पुस्तक का नाम जन्दावस्ता है जिसका ज्ञान ईश्वर की ओर से जरदुश्त पर होना माना जाता है। उसको केवल अवेस्ता नाम से भी पुकारते हैं।

रचना में कोई २४०० वर्ष व्यतीत हुए। ज़रदुश्ती साहित्य के सम्बन्ध में भी यदि हम इसी प्रकार की गणना करें तो उसका आरम्भ काल ईसा से २८०० वर्ष पूर्व मानना पड़ेगा। और यह बात उन वचनों का किसी अंश में भी विरोध न करेगी जो यूनानियों ने पारसी धर्म के प्रवर्त्तक का समय वर्णन करने में लिखे हैं"। (देखो Hang's Essays पृष्ठ १३६)

प्राचीन यूनानी ग्रन्थकारों की सम्मति भी इस प्रकार की है—"अरस्तू और यूडोक्सस, ज़रदुश्त का समय प्लेटो (अफ़लातून) से ६००० वर्ष पूर्व मानते हैं। दूसरे लोग Trojan War ट्रोज़न युद्ध से ५००० वर्ष पूर्व बताते हैं।" (देखो प्लिनी साहब की Historia Naturalis XX; 1-3)

पारसी लोग स्वयं अपने ग्रन्थों की बहुत बड़ी प्राचीनता मानते हैं और यह बात तो ईसाइयों को भी माननी पड़ेगी कि वे पंजनामे की अपेक्षा अधिक पुराने हैं।

कोई ही ऐसा होगा जो इस बात को न माने कि वेद ज़िन्दावस्ता और संसार की अन्य समस्त पुस्तकों से अधिक पुराने हैं। हमारे ऋषियों का विश्वास है कि वेदों का प्रकाश सृष्टि के आदि में हुआ। इस सम्मति पर कुछ ही क्यों न कहा जाय परन्तु इतना सुनिश्चित है कि मानवजाति के पुस्तकालय में वेदों से प्राचीनतर कोई पुस्तक नहीं। प्रोफेसर मैक्समूलर स्वीकार करते हैं कि "ऐसी कोई पुस्तक उपस्थित नहीं जो हमें मानवीय इतिहास में वेदों से प्राचीनतर समय की ओर पहुंचावे"[1] जिन्दावस्ता के विद्वान् अनुवादक पादरी एल० एच० मिल्स भी ज़िन्दावस्ता की अपेक्षा वेदों का काल पुराना निर्धारित करते हुए लिखते हैं—"मिश्र और उसके उन सहयोगियों की अनुपस्थिति जिनका वर्णन पिछली 'अवस्ता' में है हमें इस बात को स्वीकार करने की आज्ञा देते हैं कि गाथाओं का काल (जो ज़िन्दावस्ता का प्राचीनतम भाग है) ऋचाओं से बहुत पीछे का है,।[2] वे फिर कहते हैं "हम को इस परिवर्त्तन के लिये समय की आवश्यकता है और यह भी थोड़े समय की नहीं अतएव हम गाथाओं का समय प्राचीनतम ऋचाओं से बहुत पीछे का रख सकते हैं।"[3]

इस पुस्तक में हम यह दिखावेंगे कि **मुसलमानी, ईसाई, बौद्ध, यहूदी और ज़रदुश्ती इन पाँचों धर्मों की नींव वेदों पर है।**

---

[1] Chips from a German Workshop, Vol. 1. P. 4.

[2] 'जिन्दावस्ता का अङ्गरेजी अनुवाद' भाग 3, भूमिका पृष्ठ 36 (S.B.E. Series)

[3] वही पुस्तक पृष्ठ 37।

प्रथम अध्याय

धर्म का आदि-स्रोत

मुसलमानी मत का आधार विशेषतः यहूदी मत है ।

मुहम्मदीमत अधिकांश में यहूदीमत और कुछ अंश में ज़रदुश्तीमत के आधार पर है, जिस पर कि स्वयं यहूदीमत अवलम्बित है । पहली बात को तो मुसलमान भी अस्वीकार नहीं करते हैं जिनका कथन ही यह है कि उनके धर्माचार्य ने कुछेक बातों में यहूदीमत का संशोधन किया है । इन दोनों मतों को विस्तार पूर्वक मिलाने से यह बात प्रकट होगी कि अवान्तर बातों में भी मुहम्मद साहब ने यहूदियों का किस घनिष्ठता के साथ अनुकरण किया है और यह भी सिद्ध हो जायगा कि मुसलमानी मत में ऐसी बहुत कम क्या, कोई भी महत्वपूर्ण बात नहीं, जिसके लिये मुहम्मद साहब नवीन अथवा ईश्वरीय ज्ञान होने की प्रतिज्ञा कर सकें ।

अपनी अन्वेषणा के इस भाग में हम डाक्टर सेल का अनुगमन करेंगे । उनके सुप्रसिद्ध कुरान के अनुवाद में जो भूमिका है उसमें इस विषय-सम्बन्धी बातों का भण्डार भरा हुआ है ।

1. सृष्टि उत्पत्ति—

यह संसार पहिली ही बार रचा गया और प्रलय के पीछे दोबारा नहीं रचा जायगा, यह केवल यहूदी विचार है और वह मूसाई तथा अन्य दो बड़े मत अर्थात् ईसाई व मुसलमानी मतों का-- जिनकी भित्ति उसके आधार पर है विशेष उपलक्षण है । और यह विचार भी कि–यह सृष्टि सर्वशक्तिमान परमात्मा की आज्ञा से अभाव से उत्पन्न हुई --यहूदियों से लिया गया है । आदम और हव्वा की उत्पत्ति, उनका अदन के उस बाग में रक्खा जाना जहाँ एक वृक्ष के फलों को छोड़ कर वे समस्त वस्तुओं का भोग कर सकते थे, सर्प के रूप में शैतान का आना और ठीक उसी फल को खाने का प्रलोभन देना, इस पर स्वर्ग से उनका निकाला जाना, यह कथा ज्यों की त्यों यहूदी ग्रन्थों से ली गई है ।

यही बात मनुष्यों से ऊँचे उन प्राणियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है कि जो फ़रिश्ते कहलाते हैं, जिनके शरीर पवित्र और सूक्ष्म, और अग्नि से बने हुए हैं और जो न खाते और न पीते और न सन्तानोत्पत्ति करते हैं । इन फ़रिश्तों के रूप और कार्य विविध प्रकार के हैं, उनमें सबसे बड़े दूत

जबराईल, मैकाईल, इजराईल और **असराफील** हैं। डाक्टर सेल लिखते हैं—"फ़रिश्तों के सम्बन्ध की समस्त बातें मुहम्मद साहब ने यहूदियों से ली। यहूदियों ने फरिश्तों के नाम और कार्य की शिक्षा पारसियों से ग्रहण की, जैसा वे स्वयं स्वीकार करते हैं।" [1](Talmud Hieras and Rashbashan)।

कुरान में 'जिन' नामक नीच जाति के होने की शिक्षा भी दी गई है, ये भी अग्नि से बने हैं परन्तु फ़रिश्तों की अपेक्षा इनके शरीर स्थूल बनावट के हैं, क्योंकि ये खाते-पीते, सन्तानोत्पत्ति करते और मृत्यु का ग्रास बनते हैं। डाक्टर सेल का कथन है कि "ये विचार यहूदियों के उन विचारों से प्रायः सर्वथा मिलते हैं जो उन्होंने **शेडिम** नामक एक प्रकार की प्रेत जाति के सम्बन्ध में लिखे हैं।"

२. संसार का प्रलय और मृतोत्त्थान—

मुसलमान लोग आत्मा को अमर मानते हैं। उनका विचार है कि एक ऐसा दिन आवेगा जब मृतक लोग अपने जीवन में किए हुए शुभाशुभ कर्मों के अनुसार फल वा दण्ड पाने के लिए उठेंगे। यह सबकी सब शिक्षा यहूदियों से ली गई है।

मृतोत्त्थान—कुछ लेखकों के मतानुसार मृतोत्त्थान केवल आत्मिक होगा। पर साधारणतः माना हुआ सिद्धान्त यह है कि शरीर और आत्मा दोनों उठाये जावेंगे[2]। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि शरीर गल-सड़ गया, वह कैसे उठेगा? परन्तु मुहम्मद साहब ने सावधानी पूर्वक शरीर के एक भाग को इसलिये सुरक्षित रक्खा है कि जिससे वह भावी शरीर-रचना के लिये आधार का काम दे सके, अथवा उस मवाद के लिए खमीर का काम दे सके जो इसमें मिलाया जायगा क्योंकि उनका यह उपदेश है कि एक हड्डी को छोड़कर जिसे वे **अल अजब** और हम मेरुदण्ड (Coseygis) कहते हैं, मनुष्य का शेष सब शरीर पृथ्वी में मिल जायगा। मनुष्य के शरीर में सब से पूर्व उसकी रचना होने के कारण अन्तिम दिवस तक भी वह बीजरूप होकर अक्षय रहेगी जिसके द्वारा फिर नवीन रूप से सारा शरीर बनाया जायगा और जैसा उनका कथन है यह कार्य ईश्वर की भेजी हुई ४० दिन की

1 सेल साहब के 'अंग्रेजी कुरान की भूमिका' पृ० ५६ इस पुस्तक का अध्याय ४ अंश ५ भी देखो।

2 सेल साहब का अंग्रेजी कुरान, भू० पृ० ६१।

२

वर्षा से किया जायगा। यह वर्षा पृथ्वी को १२ हाथ ऊँचाई तक पानी से ढक देगी और शरीरों को पौधों के समान उगायेगी। यहाँ भी मुहम्मद साहब यहूदियों के कृतज्ञ हैं क्योंकि वह भी लूज नामक अस्थि के सम्बंध में यही बात कहते हैं। भेद केवल इतना ही है कि मुसलमान लोग जिस कार्य का बड़ी वर्षा द्वारा होना मानते हैं, यहूदि लोग उसको एक ओस द्वारा मानते हैं कि पृथ्वी की मिट्टी को उपजाऊ बना देगी।[1]

मृतोत्त्थान के चिन्ह—मृतोत्त्थान-दिवस की समीपता कुछ लक्षणों से जानी जायगी जो उससे पूर्व दिखाई देंगे।

(अ) सूर्य का पश्चिम में उदय होना।

(ब) दज्जाल नामक पशु का प्रकट होना। इसकी अत्यन्त अद्भुत आकृति होगी और वह इस्लाम की सच्चाई का अरबी भाषा द्वारा उपदेश करेगा। डाक्टर सेल की सम्मति में यह विचार उस पशु से लिया जाना प्रतीत होता है जिसका उल्लेख बाईबिल में किया गया है। (देखो लूक, अ० २३/८)

(स) महदी का आगमन।

(द) सूर नामक नरसिंहा का तीन बार फूँका जाना।

ये सब विचार न्यूनाधिक यहूदियों से लिये गये हैं। ऐसा ही यह सिद्धाँत भी है कि मृतोत्त्थान के पश्चात् किन्तु न्याय-व्यवस्था से पूर्व पुनर्जीवित आत्माओं को चिरकाल तक सूर्य की कड़ी धूप में रहकर प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। सूर्य इनता नीचा उतर आवेगा कि उसकी ऊँचाई उनके सिरों से केवल कुछेक हाथ रह जायगी।[2]

न्याय का दिन—लोगों के नियत दिवस तक प्रतीक्षा करने के उपरान्त उनके न्याय-निर्धारण के लिये ईश्वर प्रकट होंगे। उस समय हज़रत मुहम्मद साहब 'शफी' का पद ग्रहण करेंगे। तब प्रत्येक व्यक्ति से उसके जीवन के समस्त कर्मों के संबंध में पूछ-ताछ की जायगी। कुछेक का कथन है कि शरीर के समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गों में से जिसके द्वारा जो पाप हुआ है उससे वह स्वीकार कराया जायेगा। प्रत्येक मनुष्य को एक पुस्तक दी जायेगी जिसमें उसके कर्मों का लेखा लिखा होगा। इन पुस्तकों को एक तुला द्वारा तोला

1 सेल साहब का कुरान, भूमिका पृ० ६१।

2 सेल साहब का कुरान, भूमिका पृ० ६८।

जायगा, जिसे इसराईल उठावेगा। जिन लोगों के शुभ कर्मों का पल्ला अशुभ कर्मों के पल्ले की अपेक्षा भारी होगा वे सीधे स्वर्ग को भेजे जावेंगे। और जिनके कुकर्मों की मात्रा अधिक होगी उन्हें नरक का मार्ग ग्रहण करना होगा, यह विचार सर्वांश में यहूदियों से लिया गया है। डाक्टर सेल लिखते हैं कि "पुराने यहूदी लेखक लोग भी अन्तिम दिन उपस्थित की जाने वाली उन पुस्तकों का वर्णन करते हैं जिनमें मनुष्य के कर्मों का लेखा लिखा होगा, और उन तराजुओं का भी वर्णन करते हैं जिसमें यह तोली जावेंगी"।*

यहूदियों ने यह विचार ज़रदुश्तियों से लिया। डाक्टर सेल संकेत करते हैं कि दोनों के विचारों की नींव पुरानी 'धर्म पुस्तक' जान पड़ती है। (यात्रा की पुस्तक ३२। ३२-३३, दानयाल ७। १०, ईश्वरीयज्ञान २०। १२, दानयाल ५। २७) परन्तु वे स्वीकार करते हैं कि तुला के विषय में पारसी लोगों का जो विश्वास है वह मुसलमानों के विचार से बहुत मिलता-जुलता है। उनका विश्वास है कि न्याय व्यवस्था के दिन मेहर और सरूश दो देवदूत जिनका वर्णन हम आगे करेंगे, पुल पर खड़े होंगे। ये लोग पुल को पार करने वाले प्रत्येक मनुष्य की परीक्षा लेंगे। पहिला दूत जो ईश्वरीय दया का प्रतिनिधि है लोगों के कर्मों को तोलने के लिए एक तराजू हाथ में लिये रहेगा। इसकी सूचना के अनुसार ही ईश्वर आज्ञा देगा। जिनके सुकर्मों का पल्ला बोझ से बाल भर भी झुक जायगा उनको स्वर्ग में जाने की आज्ञा दी जायगी। लेकिन जिनके शुभ कर्मों का पल्ला हलका रहेगा वे ईश्वरीय न्याय के प्रतिनिधि दूसरे दूत द्वारा पुल से नरक में ढकेल दिये जावेंगे।

स्वर्ग के मार्ग पर एक पुल है जिसका नाम हज़रत मुहम्मद ने **अलसिरात**[1] रक्खा है। यह पुल नरक कुंड के ऊपर बना है। वह बाल से भी अधिक सूक्ष्म और तलवार की धार से भी अधिक तीव्र बताया जाता है। इस पुल से मुसलमान लोग मुहम्मद साहब के पीछे-पीछे सुगमतापूर्वक पार उतर जावेंगे। परन्तु दुष्ट लोगों का पैर फिसल जायगा जिससे वे अपने नीचे के विशालमुखोन्मुक्त नरक में धड़ाम से सिर के बल जा पड़ेंगे।

*देखो Midrash Yalkut Shemum P. 153. c. 3 and Gemar Sauhedr, P. 91.

1 सेल का कुरान, भूमिका, पृ. ७१। **देखो, जन्दावस्ता भाग 3, मम्युखुर्द,** पृ. १३४ (S. B. E. Series)

यहूदी लोग भी नरक सेतु का इसी प्रकार वर्णन करते हैं। उनके मतानुसार उसकी चौड़ाई धागे से अधिक नहीं है, इस विचार के लिये यहूदी और मुसलमान दोनों समान रूप से ज़रदुस्त के कृतज्ञ जान पड़ते हैं, जिसकी शिक्षा है कि अन्तिम दिन सब लोगों को चिनबद पुल पार करना होगा।[1]

स्वर्ग-अलसिरात को पार करके धर्मात्मा लोग स्वर्ग में पहुँच जावेंगे जो सातवें आसमान पर स्थित है। मुसलमानों के मत में स्वर्ग एक उद्यान है, जो झरनों और फव्वारों से सजा है, जिसमें जल, दूध और बेलसाम (Balsam) की नदियाँ बह रही हैं, वृक्षों के सुनहरी तने हैं और उन पर परम स्वादिष्ट फल लगते हैं। इनसे बढ़कर स्वर्ग में ७० सुन्दर और मनोहारिणी नवयुवतियाँ होंगी जो अपने विशाल श्याम नेत्रों के कारण **हूरूल-अयून** कहलाती हैं। प्रायः इस समस्त वर्णन के लिये मुहम्मद साहब यहूदियों के आभारी हैं। "यहूदी लोग भी पुण्यात्मा लोगों के भावी निवास स्थान को एक सुन्दर उद्यान बताते हुए उसकी स्थिति सातवें आसमान पर ही मानते हैं। "(देखो Gemar Tanith p 25. Biracath p 34, Midrash Labbath p. p. 37) उनका यह भी कथन है कि उसमें तीन द्वार और ४ नदियाँ हैं जिनमें दूध, मदिरा, बेलसाम और मधु, प्रवाहित रहते हैं।" (Midrash, Yalkut-Shewine)[2]

बहुत सम्भव है कि स्वयं यहूदियों ने यह विचार ज़रदुश्तियों से लिया हो, क्योंकि वह भी स्वर्ग की सुन्दरता का इसी प्रकार की भाषा में वर्णन करते हैं। डाक्टर सेल लिखते हैं कि "पारसी विद्वानों का पुण्यात्मा लोगों की आगामी हर्षमय अवस्था के सम्बन्ध में जो विचार हैं उस और मुहम्मद साहब के विचार में बहुत थोड़ा अन्तर है। वे स्वर्ग को **बिहिश्ति और मिन्** कहते हैं जिसके अर्थ स्फटिकमणि या बिल्लौर के हैं। उनका विश्वास है कि वहाँ धर्मात्मा लोग सब प्रकार के आनन्दों का उपभोग करेंगे, जिनमें विशेषकर श्याम नेत्र वाली **हूर ने बहिश्त** नामक उन स्वर्गीय रमणियों का सहवास हैं जो **ज़मियाद** फ़रिश्ते के संरक्षण में रहती हैं। यहीं से मुहम्मद साहब ने अपनी स्वर्गीय रमणियों का संकेत ग्रहण किया।[3]

यहाँ हम पारसियों के 'नामामिहाबाद' नामक एक पिछले ग्रंथ से कुछ

1 सेल का कुरान, भूमिका पृ. ७।

2 सेल का कुरान, भूमिका पृ. ७९।

3 भूमिका पृ. ७८।

उद्धरण देते हैं—"स्वर्ग की सबसे तुच्छ कक्षा यह है कि वहाँ के निवासी समस्त सांसारिक सुखों का उपभोग करते हैं अर्थात् सुन्दरियाँ, दासी, दास, माँस और मदिरा, कपड़े और बिछौने, सजाने का सामान तथा अन्य पदार्थ जिनकी यहाँ गणना नहीं की जा सकती।" (हिमाबाद ४०-४१)[1]

नरक—इसी प्रकार नरक की विविध प्रकार की यातनायें, उसका सात विभागों में विभक्त होना, स्वर्ग से नरक को पृथक् करने वाला **'अलऐराफ'** नामक स्थान आदि सब बातें यहूदियों से नक़ल की हुई जान पड़ती हैं।

३. ईश्वर और शैतान—

मुसलमान लोगों का ईश्वर विषयक मन्तव्य यहूदियों के मन्तव्य से प्रायः पूर्णतया मिलता है। यह सिद्धान्त भी यहूदियों ही से लिया गया कि संसार में दो शक्तियां विद्यमान हैं एक अच्छी और शुभकारिणी शक्ति अर्थात् ईश्वर, दूसरी बुरी और अशुभकारिणी शक्ति अर्थात् शैतान। उपरोक्त विचार जो बाइबिल और कुरान के एक-ईश्वरवाद पर धब्बा लगाता है निश्चय रूप से यहूदियों ने ज़रदुश्तियों से लिया जो उन शक्तियों को **स्पन्ता मन्यु और अंगिरा मन्यु** कहते हैं। आगे चलकर[2] हम इस प्रश्न पर अधिक विस्तार से विचार करते हुए यह सिद्ध करेंगे कि ज़रदुश्तियों की इस बात का पता वेदों के उस सुन्दर अलङ्कार में लगता है जिसमें संसार के पुण्य और पाप के संग्राम का वर्णन किया है। उस अलङ्कार को ठीक-ठीक न समझने का यह परिणाम हुआ कि यहूदी, ईसाई और मुसलमानों ने उसे बिगाड़कर दो अलग शक्तियों का विश्वास रच लिया। शैतान का अधिकार इतना बढ़ाया गया कि वह ईश्वर से कुछ ही कम रह गया। यह एक महत्वपूर्ण विषय है इसके द्वारा यह भली भाँति स्पष्ट हो जायेगा कि धार्मिक विचारों की धारा वेदों से ज़न्दावस्ता तक और वहाँ से बाइबिल व कुरान तक किस प्रकार बही है।

४. विहित कर्म—

हमने अब तक यह दिखाया है कि मुसलमानों ने ज्ञान-काण्ड सम्बन्धी मुख्य सिद्धान्त यहूदियों से लिये हैं। परन्तु अब हम यह दिखावेंगे कि इनके कर्म-काण्ड की भी उत्पत्ति उन्हीं से हुई।

---

1 इस पुस्तक का अ० ४ अङ्ग ८ भी देखो।

2 देखो अध्या० ४ अंश ४

प्रत्येक मुसलमान को नीचे लिखे चार कर्म अवश्य करने चाहिये अर्थात् **नमाज़, रोज़े, ज़कात** और **मक्का की यात्रा वा हज़।**

(१) नमाज़—पारसियों की दसातीर के निम्नलिखित वचनों से पाठकों को यह बात ज्ञात होगी कि मुहम्मदी लोगों की नमाज़[1] वा प्रार्थना समय की कतिपय अङ्गसंचालनादि सम्बन्धी बातें सम्भवतः ज़रदुश्तियों से नक़ल की गई हैं।

"नमाज़ पढ़ते समय एक पवित्र बुद्धिमान मनुष्य आगे खड़ा हो और शेष सब उसके पीछे। नमाज़ के समय मनुष्य दोनों हाथ मिलाकर सीधा खड़ा हो, फिर नीचे की ओर झुके, फिर धरती पर घुटनों के बल लेट जावे। फिर सीधा खड़ा होकर एक हाथ अपने सिर पर रख ले। इसके उपरान्त अपना सिर ऊँचा करे और अंगूठों को बिना मिलाये दोनों हाथों को मिलावे। अंगूठों को अपनी आँखों पर इस प्रकार रक्खे कि हाथों की अंगुलियाँ सिर तक पहुंच जावें। फिर अपने सिर को छाती की ओर झुका कर उठाये, और धरती पर बैठ जावे। इसके पीछे अपने हाथ ज़मीन पर टेक घुटनों के बल बैठ कर पहले मस्तक को धरती से लगावे और फिर मुख के दोनों ओर से उसको छुए और तदुपरान्त धरती पर दण्ड के समान लेट जावे फिर हाथों को इतना फैलावे कि छाती से धरती छू जावे। इसी प्रकार जंघाओं से करे। फिर घुटनों के सहारे झुके, फिर चारजानू बैठे और फिर हाथों को जोड़कर उन पर सिर रक्खे। इस प्रकार की नमाज़ ईश्वर के सिवाय अन्य किसी के प्रति न पढ़नी चाहिये।[2]

मुसलमानों में जो क़अबे की ओर मुँह करके नमाज़ पढ़ने की प्रथा प्रचलित है वह भी यहूदियों से ग्रहण की गई। क्योंकि वह भी अपना मुँह **यरूसलम** के मन्दिर की ओर करके नमाज़ पढ़ा करते हैं। डाक्टर सेल लिखते है "६ या ७ मास तक (कोई-कोई १८ महीने बताते हैं, देखो Abulfednit mah. p 54) मुहम्मद साहब व उनके अनुयायियों का **क़िबला** भी यरूसलम ही रहा, अर्थात् जब तक वे क़अबे को अपना 'क़िबला' बनाने के लिये बाध्य न हुए।[3]

1 नमाज़ शब्द अर्बी नहीं किन्तु पारसी है और संस्कृत के नमः से बना है।

2 यासाना प्रथम ५९—६१।

3 सेल का कुरान भूसिका, पृ० ८५।

नमाज़ के पूर्व रेती या जल से हाथ-पाँव धोने की क्रिया भी यहूदियों और पारसियों से ली गई है। खतने की प्रथा के सम्बन्ध में तो यह प्रसिद्ध है कि वह यहूदियों से ग्रहण की गई।

(२) **रोज़** (उपवास)—रोज़ों के सम्बन्ध में मुहम्मद साहब के आदेश का वर्णन करते हुए डाक्टर सेल यहूदियों तक उसका पता लगाते हैं। वे लिखते हैं कि यहूदी लोग जब उपवास करते हैं तब वे दिन निकलने से लेकर सूर्यास्त तक केवल खान-पान ही नहीं छोड़ देते प्रत्युत स्त्री, तैल-मर्दन से भी बचते हैं और रात को जैसा चाहते हैं भोजन करने में व्यतीत करते हैं। (Gemar yama, p. 40 etc.)"

(३) **खैरात** (दान)—इसके दो भेद हैं, १. **ज़कात** और २. **सदका**। इनके लिये विशेष नियम निर्धारित किये गये हैं। डाक्टर सेल के मतानुसार इन नियमों में भी यहूदियों के पद-चिन्हों का पता लगता है। (देखो सेल साहब के कुरान की भूमिका पृ० ८७)।

(४) **हज** अर्थात् मक्का यात्रा—मक्का-यात्रा की विधि यहूदियों से नहीं ली गई प्रत्युत वह मूर्तिपूजक अरब निवासियों का अवशिष्टांश मात्र है। अरब लोग मक्का के मन्दिर की चिरकाल से बहुत प्रतिष्ठा करते रहे और नबी ने उनके इस विश्वास में हस्तक्षेप करना उपयुक्त न समझा।

५. निषिद्ध कर्म—

जुआ, मदिरा-पान, ब्याज लेना तथा कई प्रकार से वर्जित माँसों का सेवन, ये कुछ ऐसे निषिद्ध कर्म हैं जो यहूदी और मुसलमान दोनों के लिए समान हैं। अभक्ष्य माँसों के बारे में कुरान में लिखा है कि "तुम्हारे लिए उसके माँस का भक्षण करना वर्जित है जो अपने आप मरा हो, रुधिर और शूकर मांस[1] का तथा उसका जिस पर ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी के नाम का पाठ किया गया हो, एवं जिसके प्राण गला घोंट कर अथवा चोट से निकाले गये हों, अथवा जो गिरने से या अन्य पशुओं के सींगों के आघात से मरा हो, या जिस किसी को जंगली जंतु ने खाया हो, तुमने स्वयं न मारा हो अथवा जो किसी मूर्ति के अर्पण किया गया हो।" डाक्टर सेल कहते हैं—"जान पड़ता है कि मुहम्मद साहब ने इन बातों का अनुकरण यहूदियों से किया, क्योंकि उनके धर्म ग्रन्थानुसार भी जैसा कि प्रसिद्ध है इन सब

1 कुरान आ० २ अं० ७३

वस्तुओं का निषेध है पर मुहम्मद साहब ने कुछ ऐसी वस्तुओं को खाने की आज्ञा दी है जिनका विधान हजरत मूसा ने नहीं किया था।'' (देखो बाइबिल लेवित् ११।४)।

६. सामाजिक प्रथाएँ—

मुसलमानों की सामाजिक प्रथाएँ उसी प्रकार **कुरान** पर अवलम्बित हैं जिस प्रकार यहूदियों की **पंजनामे** पर। निम्नलिखित बातों से प्रकट होगा कि मुसलमानों ने इस विषय में भी यहूदियों की नकल की है—

१—**बहु-विवाह** (एक पुरुष का कई स्त्रियों से विवाह) का दोनों में विधान है। परन्तु मुसलमानों को एक समय में चार स्त्रियों से अधिक के साथ विवाह करने की आज्ञा नहीं। डाक्टर सेल उपरोक्त निश्चित संख्या के सम्बन्ध में लिखते हैं—''उसके स्थिर करने में मुहम्मद साहब ने उन यहूदी आचार्यों की व्यवस्था का अनुकरण किया है जिन्होंने सलाह तौर पर चार स्त्रियों तक की सीमा रक्खी है (देखो Maimon in Halachath I shath, C. 14) यद्यपि उनके शास्त्र में स्त्रियों की संख्या का प्रतिबन्ध नहीं है।'' (सेल का कुरान भूमिका पृष्ठ १०४)।

स्त्री-त्याग—(तलाक) की प्रथा भी दोनों मतों में समान रूप से प्रचलित है। स्त्री-त्याग का विधान करने में मुहम्मद साहब ने यहूदियों का अनुगमन किया है। जब कोई स्त्री त्याग दी जावे तो उसे अपना पुनर्विवाह करने के पूर्व ३ मास पर्यन्त प्रतीक्षा करनी चाहिये। इस अवधि को 'इद्दत' कहते हैं। इस अवधि के अन्त में यदि वह गर्भिणी सिद्ध हो तो बालक प्रसव करने तक दूसरा विवाह नहीं कर सकती। डा० सेल लिखते हैं कि—''यह नियम भी यहूदियों से लिए गये, क्योंकि उसके मतानुसार किसी त्यक्त अथवा विधवा स्त्री को पति के त्यागने अथवा मृत्यु होने से ९० दिन तक दूसरे पुरुष के साथ पुनर्विवाह करने का अधिकार नहीं है।'' डाक्टर सेल का यह भी कथन है कि—''स्त्रियों के मासिक-धर्म समय की अशौचता, दासियों को स्त्री बनाना तथा किन्हीं निश्चित सम्बन्धों में विवाह-वर्जन आदि विषय में भी मुहम्मद साहब के आदेशों की हजरत मूसा के विचारों से समानता कुछ कम नहीं है।''

७. कुछ साधारण समानताएँ—

१-सप्ताह का एक दिन ईश्वर की विशेष उपासना के लिए पृथक्

रखना भी यहूदियों की ही प्रथा है। वे शनिवार को पवित्र मानते हैं। ईसाई लोगों ने अपना 'विश्राम दिवस' रविवार को निश्चित किया और मुहम्मद साहब ने इस सम्बन्ध में इन मतों का अनुकरण किया है परन्तु कुछ अन्तर रखने के विचार से उन्होंने अपने अनुयायियों को शनिवार और रविवार के स्थान में शुक्रवार को पवित्र दिन मानने की आज्ञा दी।

२—कुरान का मूल सिद्धान्त **"ला इलाह इल्लिल्लाह"** (खुदा के अतिरिक्त कोई खुदा नहीं) जरदुश्तियों के "नेस्तेज़द मगर यज़दां" का उल्टा मात्र है।

३—इस बात का भी लिखना उचित है कि केवल नवें अध्याय को छोड़कर कुरान के शेष सब अध्याय **"बिस्मिल्लाह अर्रहमाने रहीम"** इन शब्दों से प्रारम्भ होते हैं। ज़रदुश्तियों के इस सूत्र का रूपान्तर है जिसको वे अपनी पुस्तकों के आरम्भ में लिखते हैं। "बनाम यज़दां बख़शिश-गरदादार" (साथ नाम यज़दां के जो बख़शिश करने वाला और देने वाला है)।

८. सारांश—

उपर्युक्त बातें यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं कि मुसलमानी मत ने प्रायः समस्त धार्मिक विचार और शिक्षाएँ अधिकाँश में यहूदियों और किसी अंश में ज़रदुश्तियों से ग्रहण की हैं। अतएव कुरान का धर्म कोई नवीन ईश्वरीय ज्ञान अथवा ईश्वर की किसी विशेष आज्ञा के प्रचार का दावा नहीं कर सकता। हमारे मुसलमान भाई कदाचित् यहाँ यह कहेंगे कि "कुरान का एक-ईश्वरवाद यहूदी और ईसाईमत से भी पवित्र और उत्तम है। और ज़रदुश्ती मत के विषय में तो कुछ कहना ही नहीं, क्योंकि वह दो ईश्वरों में विश्वास रखने के कारण कदापि एक ईश्वरवादी नहीं हो सकता।" इसमें सन्देह नहीं कि ईसाईयों का ईश्वर विषयक विचार कई बातों में मुसलमानी विचारों से बढ़कर है। ईसाई लोग 'कुरान के खुदा' की अपेक्षा अपने ईश्वर को अधिक धर्मप्रिय, अधिक दयालु, अधिक पवित्र और अधिक प्रेम करने वाला वर्णन करते हैं। दूसरी बातों में निस्सन्देह ईसाईयों का ईश्वरवाद कुरान की आस्तिकता से घटिया है। ईसाईमत ईश्वरत्व में तीन आत्माओं (Trinity) की शिक्षा देता है, जिसको वास्तव में तीन ईश्वरों में विश्वास करना समझना चाहिये। इस बात में ईसाईमत की अपेक्षा कुरान एक

ईश्वर की उपासना करने का अधिक दृढ़तापूर्वक उपदेश देता है, परन्तु यह समझना कठिन है कि यहूदियों की अपेक्षा मुसलमानी मत की ईश्वर-विषयक शिक्षा क्योंकर उत्तम है क्योंकि यह दोनों ही मत समान रूप से एक-ईश्वर-वादी वा दो शक्तिवादी हैं। दोनों ही शैतान को प्राय: ईश्वर के समान मानकर अपने अद्वैतवाद की शुद्धता को कलंकित करते हैं। दोनों के ईश्वर विषयक एक से ही विचार हैं। यहूदियों का "जैहोवा" (Jehova) जो मनुष्यों के से गुण वाला, चल चित्त, बदला लेने वाला, कुरान के अल्लाह से पूर्ण सादृश्य रखता है, जो एक असहिष्णु और स्वेच्छाचारी सम्राट के समान वर्णित है, कि अपने पूजकों को 'काफ़िरों' के साथ धर्म-युद्ध करने और उनका संहार करने की आज्ञा देता है।

रहा ज़रदुश्ती मत का ईश्वर-विषयक विश्वास, वह यहूदियों वा मुसलमानों के आस्तिकवाद से किसी प्रकार भी घटकर नहीं है। पादरी ऐल० एच० मिल्स का कथन है कि अब तक जितने शुद्ध से शुद्ध विचार उपस्थित किये गए हैं उनमें 'अहुरमज़दा' का विचार भी है[1]। हम यह भी कह सकते हैं कि निःसन्देह वह कुरान और बाईबिल के ईश्वर का वास्तविक मूल रूप है। हम इस विषय पर आगे चलकर विस्तार पूर्वक विचार करेंगे[2]। एक ईश्वरवाद के विषय में मुहम्मद साहब की शिक्षा का गौरव इसलिये अवश्य है कि उन्होंने उस समय के बिगड़े हुए ईसाईमत वा उन अरब निवासियों की बहुदेव-पूजा का विरोध किया कि जिनमें वे स्वयं रहते थे। मुहम्मद साहब के समकालीनों के विचारों से उनकी शिक्षा कितनी ही उत्तम क्यों न समझी जावे परन्तु कुरान का 'ईश्वरवाद' यहूदियों के ईश्वरवाद से अधिक श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। अतएव यह प्रतिज्ञा कि कुरान की ईश्वर विषयक शिक्षा यहूदी और ज़रदुश्ती ईश्वर-वाद से (जिनसे वह निकली है) अधिक उत्तम है और इसलिये कुरान ईश्वर का विशेष वा स्वतन्त्र ज्ञान है, सिद्ध नहीं हो सकता।

1 जन्दावस्ता भाग ३ पृ० ३८ (S. B. E. Series)

2 देखो अध्याय ४ अं० ३। और अध्याय ५ अं० ५।

द्वितीय अध्याय

ईसाईमत का आधार विशेषत : यहूदीमत और अंशतः बौद्धधर्म है

"जो अब ईसाई धर्म कहा जाता है वह प्राचीन लोगों में भी था, और वह मानव जाति के आरम्भ काल से लेकर ईसामसीह के शरीर धारण करने तक बराबर उपस्थित रहा। हज़रत ईसा के उत्पन्न होने के समय से उस पूर्ववर्त्ती धर्म का नाम ईसाई मत पड़ा।" — **(सेन्ट औगस्टाइन)**

1. यहूदीमत और ईसाईमत—

ख्रीष्ट मत के समस्त सिद्धान्त जैसा कि स्वयं उसके अनुयायी भी स्वीकार करते हैं यहूदीमत से लिए गये। ईसाई लोग "पुरानी धर्म पुस्तक" को यहूदियों के सदृश ही ईश्वरीय वाक्य मानते हैं। हज़रत ईसा ने —जो जन्म के यहूदी थे—यहूदीमत को लुप्त करके अपना नवीन धर्म स्थापित करने की कभी इच्छा नहीं की। ईसामसीह ने अपने **'पर्वती उपदेश'** में प्राचीन धर्मों के सम्बन्ध में अपने विचारों को स्पष्ट रूप से प्रकट किया है—"यह मत समझो कि मैं तौरेत अथवा नबियों को नष्ट करने आया हूं। नष्ट करने को नहीं प्रत्युत उन्हें पूर्ण करने के लिये मेरा आगमन हुआ है। मैं तुमसे सच कहता हूं कि जब तक पृथ्वी और आकाश स्थित हैं तब तक तौरेत से एक बिन्दु या कण भी दूर न होगा जब तक कि वह सर्वाङ्ग-सम्पन्न न हो जावे। सुतराम, जो व्यक्ति छोटी-छोटी आज्ञाओं को भी भङ्ग कर लोगों को तदनुसार ही उपदेश देगा वह स्वर्ग-साम्राज्य में महातुच्छ कहलावेगा और जो उन्हें स्वयं कर्त्तव्य में परिणत करता हुआ दूसरों से भी वैसा ही करावेगा वह महान् कहा जायगा।"

(मत्ती की इंजील अ० ५ आ० १७—१९)

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है "तो क्या यहूदी और ईसाईमत में कुछ अन्तर ही नहीं? क्या इन दोनों की शिक्षा एक ही है? क्या इन दोनों के मध्य भेद प्रकट करने की कोई बात नहीं?" इन सब प्रश्नों का हम यह उत्तर देंगे कि ईसाईयों के आध्यात्मिक सिद्धान्त निश्चय रूप से वही हैं जो यहूदियों के हैं, लेकिन उनके सदाचारिक उपदेश यहूदीमत के आचार्यों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ एवं उच्चतर हैं। इन दोनों मतों का भेद स्वयं ईसामसीह

ने अपने उस **'आत्मोन्नायक पर्वती व्याख्यान'** में बड़ी स्पष्ट रीति से दिखाया है जिसके कुछ वचन हम पूर्व भी उद्धृत कर चुके हैं।

"मैं तुम से कहे देता हूँ कि यदि तुम्हारी सत्यनिष्ठा धर्म व्याख्याताओं (Scribes) और फारसी लोगों की सत्यनिष्ठा से बढ़कर न होगी तो तुम किसी दशा में भी 'स्वर्गसदन' में प्रवेश न कर सकोगे।"

"तुम श्रवण कर चुके हो कि पूर्व पुरुषाओं से कहा गया था कि हिंसा मत करना, जो कोई हिंसा करेगा उसे न्यायव्यवस्था का दण्ड भोगना पड़ेगा, परन्तु मैं तुमसे कहता हूँ कि जो कोई अकारण ही अपने भाई से रुष्ट रहेगा वह दण्ड पाने के योग्य समझा जायगा, जो कोई अपने भाई को विक्षिप्त कहेगा वह 'विचार-सभा' से दण्ड पावेगा। परन्तु जो कोई उसे मूर्ख बतावेगा वह नरक में डाला जावेगा। इसलिये यदि तू यज्ञ-वेदी पर अर्पण करने को कुछ भेंट लावे और वहाँ तुझको स्मृति हो कि मेरा भाई मुझ से कुछ अप्रसन्न है तो तू भेंट वहीं छोड़कर पहले उसमें प्रेम कर और पीछे भेंट को वेदी पर चढ़ा। जब तू मार्ग में अपने शत्रु के साथ हो तो उससे तुरन्त मेल करले, ऐसा न हो कि किसी समय शत्रु तुझे न्यायाधीश को सौंप दे और वह तुझे अफ़सर के हवाले करदे जिससे तुझे कारागार भोगना पड़े। तुझसे निश्चय रूप से कहता हूँ कि जब तक तू कौड़ी-कौड़ी का भुगतान न कर देगा तब तक उस बन्धन से कदापि मुक्त न होगा।"

"तुमने सुना है कि प्राचीन लोगों से कहा गया था कि व्यभिचार न करना, परन्तु मैं तुमसे कहता हूँ कि यदि किसी ने पर-स्त्री की ओर कुदृष्टि से देखा तो समझना चाहिये कि वह उसके साथ मानसिक व्यभिचार कर चुका। यदि तेरी सीधी आँख तुझे खिझाती है तो उसे पृथक् करदे क्योंकि तेरे लिये यह लाभदायक है कि तेरे शरीर के अवयवों में से एक नष्ट हो जाय और सारा शरीर नरक में पड़ने से बच जावे। और यदि तेरा सीधा हाथ कुचेष्टा करे तो उसे काटकर फेंक दे क्योंकि तेरे लिये यही उपयोगी है कि सारा शरीर नरकग़ामी न बनाकर केवल एक अवयव को पृथक् करदे। यह भी बताया गया था कि यदि कोई अपनी स्त्री को छोड़ दे तो उसे 'त्याग-पत्र' लिखदे। परन्तु मैं तुमसे यह कहता हूँ कि जो कोई दुराचारिणी होने के अतिरिक्त अन्य किसी कारणवश स्त्री-त्याग करता है वह उसे व्यभिचारिणी बनाने का भागी है, और जो कोई उस त्यक्ता स्त्री से विवाह करता है वह उसके साथ व्यभिचार करता है।"

"फिर तुम सुन चुके हो कि पूर्वजों से कहा गया था कि तुम स्वार्थवश शपथ न खाना प्रत्युत ईश्वर के निमित्त उनकी पूर्ति करना। मैं तुमसे यह कहता हूँ कि तुम शपथ ही न खाओ। न तो आसमान की क़सम खाना क्योंकि वह ईश्वर का सिंहासन है, न पृथ्वी की क्योंकि वह ईश्वर की पादुका-स्वरूप है और न यरूसलम की क्योंकि वह बड़े राजा का नगर है। तुम सिर की भी शपथ न खाओ क्योंकि तुम एक बाल तक को स्याह या सफेद नहीं कर सकते। तुम्हारे सन्देश में 'हाँ-हाँ' और 'नहीं-नहीं', होने चाहिये, क्योंकि जो बात इनसे अधिक होती है उसका दूषणों में परिगणन किया जाता है।"

"तुम इस बात को सुन चुके हो कि "आँखों के बदले आँख और दाँतों के बदले दाँत।" परन्तु मैं तुमसे कहता हूँ कि दुष्ट का सामना न करना। जो कोई तुम्हारे सीधे गाल पर थप्पड़ मारे तो दूसरा भी उसी की ओर कर दो। और यदि कोई कानून के अनुसार नालिश करके तुम्हारा कोट लेना चाहे तो चोग़ा भी उसे दे दो। यदि तुम्हें कोई एक मील चलने के लिये बाध्य करे तो तुम उसके साथ दो मील तक चले जाओ। जो कुछ वह तुझसे माँगे उसे दे और जो तुझ से ऋण-याचना करे उससे मुँह मत फेर ले।"

"तुम इस बात को श्रवण कर चुके हो कि 'तू अपने पार्श्ववर्त्तियों के प्रेम और शत्रुओं पर से घृणा कर, लेकिन में तुमसे यह कहता हूँ कि शत्रुओं पर प्यार करो। जो तुमको कोसें उन्हें आशीर्वाद दो, जो तुमसे घृणा करे उनसे प्रेम करो, जो तुससे द्वेष करें या कष्ट पहुँचावें उनके लिये ईश्वर से प्रार्थना करो जिससे तुम अपने स्वर्गीय पिता के प्यारे पुत्र बनो, क्योंकि वह भले-बुरे दोनों पर सूर्य की किरणें पहुँचाता है, सच्चे और झूठे दोनों पर जल-वृष्टि करता है। जो लोग तुम पर प्रेम करते हैं उन्हीं पर तुम भी प्रेम करो तो तुम्हारे लिए क्या लाभ होगा? क्या कर-ग्राही लोग ऐसा ही नहीं करते? यदि तुम अपने भाइयों को ही अभिवादन करते हो तो अन्यों की अपेक्षा कौनसा बड़ा कार्य करते हो? तुमको अपने स्वर्गीय पिता के समान पूर्ण बनना चाहिये"।

(मत्ती रचित इंजील अ० ५ आ० २०-४८)

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि सदाचारिक शिक्षाओं के संबंध में यहूदियों की अपेक्षा खीष्टमत अधिक उन्नत है। आत्मनम्रता, सच्चरित्रता,

शुद्धता, क्षमाशीलता, लौकिक वासनाओं में अश्रद्धा, शान्ति, दान, सज्जनता, सहिष्णुता, प्रेम-निदान, मनुष्य जीवन का उच्चतम आदर्श और सदाचार का श्रेयस्कर शास्त्र—ये ही बातें हैं जिनसे यहूदियों के प्राचीनतर धर्म ख्रीष्टमत के बीच भेद जाना जाता है। परन्तु यह बातें ईसाईमत की मौलिक बातें नहीं, प्रत्युत बौद्धधर्म के प्रभाव से हैं।

ईसाईमत पर बौद्ध धर्म का प्रभाव

२. सम्बन्ध का मार्ग--

महाशय रमेशचन्द्रदत्त लिखते हैं कि बौद्धधर्म के सदाचारिक सिद्धांत और शिक्षाएँ ईसाईमत के सिद्धांतों से इतने मिलते जुलते हैं कि बहुत दिनों से इन दोनों धर्मों के मध्य कोई संबंध होने का सन्देह किया जा रहा है। [1]यूनान में बुद्ध की शिक्षा ईसामसीह के जन्म से बहुत पूर्व प्रवेश कर चुकी थी। महाराजा अशोक के गिरनार के शिलालेखों से पता चलता है कि उनके राज्यकाल में बौद्ध प्रचारक, **सीरिया देश** में अपना धर्म फैलाने के लिए गये थे। प्लिनी (Pliny, the naturalist) नामक तत्त्ववेत्ता (प्रथम शताब्दी का प्रसिद्ध रोमन इतिहासवेत्ता) पैलस्टाइन में ईसा से कोई एक शताब्दी पूर्व ऐसेनैस (Essenes)[2] नामक सम्प्रदाय का उल्लेख करता है। अर्वाचीन खोज से सिद्ध हुआ कि वह सम्प्रदाय बौद्धधर्म की एक शाखा रूप था। मिश्र देश में भी इसी प्रकार का थेरापोटे (Thara pautae) नामक एक सम्प्रदाय विद्यमान था। इस बात को ईसा-चरित्र (Life of Jesus) के सुप्रसिद्ध लेखक पादरी **रेनन** साहब जैसे विद्वान् भी स्वीकार करते हैं कि उक्त सम्प्रदाय **ऐसेनैस** या दूसरे शब्दों में बौद्धधर्म की शाखा स्वरूप था। वे लिखते हैं कि **फ़ीलो** के **थेरापेटे** ऐसेनैस की शाखा है। उनका नाम यूनानी भाषा में **ऐसेनैस** का उलथा मात्र जान पड़ता है।[3] इस प्रकार हमें पता लगता है कि ईसा के जन्म से पूर्व पैलस्टाइन, सीरिया और मिश्र में बौद्धधर्म पूरा प्रचार पा चुका था। और पैलस्टाइन के ऐसेनैसों में बौद्धधर्म के सिद्धान्त साधारण घरेलू कहावत बने हुए थे। श्रीयुत् रमेशचन्द्रदत्त का

1 Civilisation in Ancient India, vol. 11, p 828.
2 देखो Historia Naturalis, vol. V. 17. quoted in R. L. C. Dutt's Ancient India, Vol. 11. p. 337.
3 Quoted in Ancient India, Vol. 11 p. 337.

कथन है कि कुछ नरम ईसाई इस बात को मानते हैं कि सीरिया में बौद्ध-धर्म (प्रोफेसर महाफ़ी के शब्दों में) उस मत का सहायक अग्रगन्ता बना जिसका प्रचार ईसामसीह ने दो शताब्दियों से भी अधिक समय के पश्चात् किया।[1] हम यह जानते हैं कि ईसा का अग्रगन्ता बपतिस्मा देने वाला 'जौन' **ऐसेनैस** की शिक्षाओं से भली भाँति अभिज्ञ था। कुछ ग्रन्थकारों की सम्मति है कि वह स्वयं भी **ऐसेनैस** अर्थात् बौद्ध था। अतएव अब यह स्पष्ट है कि हजरत ईसामसीह ने बपतिस्मा देने वाले से बौद्धधर्म की शिक्षा और संस्कारों के संबंध में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया। उपरोक्त घटनाएँ बौद्ध और ईसाई धर्म के बीच परस्पर सम्बन्ध का मार्ग वा द्वार दिखलाने के लिये पर्याप्त हैं।

३. उपदेशों की समानता—

परस्पर सम्बन्ध की सम्भावना को दिखलाने के उपरान्त अब हम बुद्ध और ईसा के उपदेशों को बराबर-बराबर रखते हैं, जिनसे यह ज्ञात होगा कि वे भाव और भाषा में एक दूसरे से किस घनिष्ठता के साथ समता रखते हैं :—

बुद्ध	ईसा
१ – अरे मूर्ख ! इन जटाओं और मृगछाला धारण से क्या लाभ है ? तेरा अन्तःकरण मलीन है पर बाहर से स्वच्छता का आडम्बर बनाए हुए है। (धम्मपद ३९४)	१—धर्मग्रन्थ-लेखक और फरसियो, तुम पर शोक होता है, क्योंकि तुम सफेदी से पुती हुई उस कब्र के अनुसार हो जो बाहर तो सुन्दर दिखाई देती है परन्तु भीतर मृतकों की अस्थियों तथा अन्य मलिन वस्तुओं से परिपूर्ण है। (मत्ती का इञ्जील २३/२७) प्रभु ने उससे कहा कि एफ़रिसी! तुम प्याले और तश्तरियों को तो बाहर से साफ़ करते हो परन्तु तुम्हारा

1. Ancient India, Vol., 11 329.

अन्तःकरण लूट-खसोट और धूर्त्तताओं से भरा हुआ है।
(लूक का इन्जीज ११/३९)

२—द्वेष, द्वेष से कदापि दूर नहीं होता प्रत्युत वह प्रेम से दूर होता है। उसका यही स्वभाव है। हमें आनंदपूर्वक रहना चाहिये, जो हमसे विरोध करें, हमें उनसे विरोध न करना चाहिये। हमसे द्वेष करते हैं उनके मध्य रहते हुए भी हमें द्वेष से दूर रहना चाहिये। क्रोध पर प्रेम से और बुराई पर भलाई से विजय प्राप्त करना चाहिये।
(धम्मपद ५/१९७, २२३)

२—परन्तु मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम अपने शत्रुओं से प्रेम करो और अशुभचिन्तकों को आशीर्वाद दो। जो तुम से घृणा करे उसके साथ भलाई करो, जो तुमसे वैर करें या कष्ट पहुँचावें उनके लिये प्रार्थना करो।
(मत्ती ५/४४)

३—जीव-हिंसा, हत्या करना, काटना, बाँधना, चोरी करना, असत्य भाषण, छल, कपट, निरर्थक पुस्तकों का पाठ, पर स्त्रीगमन आदि पाप मनुष्य को पतित करते हैं।
(सुत्त निपात अनिगन्धसुत्त S. B. E. Series)

३—क्योंकि कुविचार, हत्याकाण्ड, व्यभिचार, लंपटता, चौर कर्म, असत्य साक्षी तथा ईश्वर के प्रति कुवाक्य आदि बातें हृदय से ही उत्पन्न होती हैं और यही बातें मनुष्य को पतित करती हैं। (मत्ती १५। १९-२०)

४—जो मनुष्य तदनुसार कार्य नहीं करता उसकी चिकनी-चुपड़ी निरर्थक बातें गंधहीन, सुन्दर रंग वाले पुष्प के समान हैं।
(धम्मपद ५१)

४—तुम्हारे लिये ये जो कुछ आदेश करें उसे मानते हुए तदनुसार कार्य करो, परन्तु तुम उनके से कर्म न करो क्योंकि वह कहते तो हैं परन्तु करते नहीं। (मत्ती २३। ३)

५– सब मनुष्य दण्ड से काँपते हैं और जीवन से प्रेम करते हैं, स्मरण रखो तुम भी उन्हीं के सदृश हो। न तुम स्वयं हिंसा करो, न हत्या कराओ।

५—जो व्यवहार अन्यों से तुम अपने लिये कराना चाहते हो वैसा ही उनके साथ तुम भी करो।
(लूक ६।३१)

(धम्मपद १३०[1])

६ – दूसरों का दोष सहज ही में दीख पड़ता है। परन्तु अपने दूषण देखना कठिन है। आदमी अपने पड़ोसियों के अवगुणों को भूसी की तरह छान फटक डालता है परन्तु अपने दोषों को इस प्रकार छिपाता है जैसे ठग झूठे पांसों को जुआरी से छिपाता है।

(धम्मपद)[2]

६—अपने भाई की आँखों के तृण को तो देखता है लेकिन स्वयं अपने नेत्रों की शहतीर की ओर क्यों विचार नहीं करता।

(मत्ती ७।३)

इस प्रकार हम देखते हैं कि आन्तरिक पवित्रता, मृदुता, क्षमाशीलता, अपकार के बदले उपकार करना आदि बातें बौद्धधर्म के ऐसे ही स्पष्ट चिन्ह हैं जैसे कि ईसाई धर्म के।

'नवीन धर्म पुस्तक' (अर्थात् इंजील) की कथाएँ भी बौद्धधर्म की कथाओं से बहुत-कुछ समता रखती हैं और सम्भवतः उन्हीं से नक़ल की गई हैं। श्रीयुत् रमेशचन्द्रदत्त लिखते हैं कि "रेनन" (Renan) भी जो ईसाईमत की रचना में बौद्धधर्म का प्रभाव स्वीकार करने का विरोधी है– लिखता है कि यहूदीमत में ऐसी कोई बात नहीं थी जो ईसामसीह को कथाओं की शैली का निदर्शन होता। दूसरी ओर बौद्धधर्म के ग्रन्थों में हमें ठीक उसी रंग-ढंग की दृष्टान्त-कथाएँ मिलती हैं जैसी कि इंजील में हैं।" (रेनन-कृत ईसामसीह की जीवनी का अनुवाद पृ० ३६)

---

1 इसी प्रकार महाभारत में कहा है :—

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

धर्म का सार श्रवण करो और सुनकर उसे धारण करो। जो बात तुम अपने लिये पसन्द नहीं करते उसे दूसरों के लिये भी मत करो।

2 इसी प्रकार नीति में कहा है :—

खलः सर्षपमात्राणि परछिद्राणि पश्यति ।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ॥

दुष्ट आदमी दूसरों के सरसों-भर दोष को भी देखता है, परन्तु अपने बेल के बराबर दोषों को भी जान-बूझ कर नहीं देखता।

४

समानता दिखाने वाली कुछ दृष्टान्त-कथाओं को उद्धृत करने के लिये हमारे पास स्थान नहीं है। उदाहरणार्थ हम पाठकों से 'बोने वाले की कथा' का संकेत करते हैं जो "भरद्वाज सुत्त" में है और जिसकी तुलना युहन्ना के पंचम अध्याय की १४ आयत से होती है, और "धनिया सुत्त" में 'धनिया की कथा' लूका के १२वें अध्याय की १६ आयत के बिलकुल समान है।

४—बिहार वा साधु-आश्रम और कर्मकाण्ड सम्बन्धी समानता—

डाक्टर फरगुसन साहब जिनकी सम्मति भारतीय भवन-निर्माणकला विषय पर अत्यन्त प्रमाणिक समझी जाती है, **"कारली"** के बौद्ध गुहा मन्दिर का समय सन् ईसवी से ७८ वर्ष पूर्व का निश्चित करते हुये उसके सम्बन्ध में लिखते हैं कि "यह भवन प्राचीन ईसाई गिरजों से बहुत कुछ समानता रखता है क्योंकि इसके भी मध्य में लम्बा कमरा और उसके दोनों ओर मार्ग हैं जिनके अन्त में गुम्बद हैं और उसके चारों ओर रास्ते बने हैं। तुलना के विचार से यह कहा जा सकता है कि उसका रचना-क्रम और विस्तार नौरविच, कैथेड्रल और केन के Abbayeaux Hommes नामक गिर्जा के गायनभवनों से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं यदि पिछले भवन बाह्य मार्गों को दूर कर दिया जावे। गुम्बद के ठीक नीचे और जहां ईसाई गिरजों में प्राय: यज्ञवेदी बनी होती है 'दागोपा'[1] स्थित है।

श्रीयुत रमेशचन्द्रदत्त लिखते हैं कि "बौद्ध और रोमन कैथेलिक ईसाइयों के धार्मिक कृत्यों की समानता के सामने यह भवन-कला संबंधी समानता कुछ भी नहीं है। **ऐवेव्ह्यू** नामक रोमन कैथेलिक पादरी ने तिब्बत में जो दृश्य देखा उससे वह बहुत ही आश्चर्य में हुआ, उसने लिखा है कि "हमारे और बौद्धों के बीच इतनी समानताएँ हैं—पोप के जैसा दण्ड, टोपी, ढीला चोगा और सेली जिनको बड़े लामा यात्रा करते या विदा होते समय अथवा मन्दिर के बाहर किसी धार्मिक कृत्य में पहनते हैं, प्रार्थना करते समय भजन गाने वालों का दो पंक्तियों में खड़ा होना, भजन-गान, भूत निकालने को झाड़ फूँक, पांच शृङ्खलाओं में लटके हुए दीपक जो स्वयं बन्द हो जाते और स्वयं खुल जाते हैं, लामाओं का अपने अनुयायियों के सिर पर

1 बौद्ध मन्दिरों में जहां बुद्धदेव की वा अन्य किसी महात्मा की अस्थि वा अन्य कोई चिन्ह स्थापित किया जाता है उसको 'दागोपा' वा 'दागोवा' कहते हैं। यह शब्द संस्कृत धातु 'गर्भ' से बना है।

सीधा हाथ रखकर उन्हें आशीर्वाद देना, सिर पर लपेटने का फूलों का हार, साधुओं का विवाह न करना, व्रत के दिनों में सांसारिक कार्यों से उपरामता, सन्त-सेवा, उपवास, जलूस, मन्त्र जप, पवित्र जल।" मिस्टर आर्थर लिली (Mr. Arthur Lilie) जिनकी पुस्तक से दत्त महाशय ने उपर्युक्त वाक्य उद्धृत किये हैं, लिखते हैं—योग्य पादरी एब्वे ने समानताओं की सूची को किसी प्रकार समाप्त नहीं किया है किन्तु उसमें इन बातों को भी समावेशित कर सकते थे--अपराध स्वीकार करना, सिर मुण्डित करना, चिह्न व प्रतीक—पूजा, पूजा-स्थानों वा समाधि-स्थानों के सामने फूल बत्ती और प्रतिमाओं का उपयोग; क्रास वा स्वस्तिक का चिह्न, अद्वैत में द्वैत विश्वास, देवी की पूजा, धार्मिक ग्रंथों का ऐसी भाषा में उपयोग जिसे पूजा करने वालों की बहुत संख्या न समझ सके; बुद्ध तथा अन्य सन्तों की मूर्तियों पर मुकुट और मुख के चारों ओर मण्डल, देवदूतों के पंख, तप, पाप, दण्ड, मोर छल, पोप बिशप आदि अनेक दर्जे के पादरी, ईसाई गिरजों की विविध प्रकार की रचना संबंधी समानताएँ।" इस सूची में मिस्टर बालफूर साहब Mr. Balfour अपनी पुस्तक Cyclopaedia of India में इतनी बातें और बढ़ाते हैं--ताबीज़, औषध, चमकते हुए लेख। और मिस्टर टाम्सन साहब Thomson अपने Illustrator of China, vol 11, p 18 में इन बातों को और जोड़ते हैं—बपतिस्मा, त्यौहार और मृतकों की आत्मा के लिये पिण्डदान।[1]

बपतिस्मा जो ऊपर की सूची में आ चुका है, बौद्ध और ईसाई दोनों धर्मों में समान है। वस्तुतः यह पहले बौद्धों ही का 'अभिषेक' नामक संस्कार था और ऐसा प्रतीत होता है कि 'बपतिस्मा देने वाले' यूहन्ना ने पैलस्टाइन के बौद्ध ऐसैनेस लोगों से इसको ग्रहण किया था। जब हज़रत ईसा का 'बपतिस्मा' देने वाले, यूहन्ना से संग हुआ तो उन्होंने उस कृत्य को उनसे ग्रहण कर लिया और तभी से वह ईसाई धर्म का प्रधान संस्कार बन गया। दीक्षा (बपतिस्मा) लेते समय जिस भाँति एक ईसाई को पिता, पुत्र और पवित्रात्मा पर विश्वास लाना होता है, उसी प्रकार अभिषेक के समय बौद्ध को 'बुद्ध, धर्म और संघ' इन तीनों को स्वीकार करना होता है।[2]

1 Buddhism and Chrishtiandom, p. 202, quoted in Ancient India, vol. II, p. 335. 2. Ancient India, vol. II, pp. 835-6.

दत्त महाशय लिखते हैं कि इनकी समानता इतनी दृढ़ है कि ईसाईधर्म के प्रारम्भिक प्रचारकों ने जब तिब्बत और चीन की यात्रा की तो उन्होंने अपने इस विश्वास को लेखबद्ध कर दिया कि बौद्ध लोगों ने अपने धार्मिक संस्कार और कृत्यों के ग्रहण करने में रोमन कैथेलिक गिरजों का अनुकरण किया है। हम अपनी अगली पुस्तक में यह सिद्ध करेंगे कि बौद्ध लोग ईसा के जन्म से पूर्व ही पर्वतों को फोड़कर अपने विशाल मन्दिरों का निर्माण कर चुके थे; पटना के निकट नालन्द स्थान पर एक बहुत बड़ा बौद्ध भिक्षुकों का विहार, धन-सम्पन्न प्रचारक समूह और विद्वत्पूर्ण विश्वविद्यालय उस समय उपस्थित थे, जब योरोप में इस प्रकार की बातों का कहीं प्रादुर्भाव तक न हुआ था। बौद्धधर्म की भारत में अवनति होते हुए उसकी उच्च रीति, और संस्थाओं का तिब्बत, चीन एवं दूसरे देशों के निवासियों ने नालन्द तथा अन्य स्थानों से उस समय अनुकरण कर लिया था जब योरोप असभ्य जातियों के आक्रमणों से उभरने भी न पाया था। अपनी जागीरदारी सभ्यता वा धार्मिक व्यवस्था और रीति-नीतियों को स्थिर भी न कर सका था। विद्वान् ग्रंथकर्त्ता इतने कथन के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि "जहाँ तक दोनों मतों के मध्य समानता स्थिर होती है वहाँ तक सम्पूर्ण धर्म-सम्बन्धी शासन और धार्मिक संस्थाओं की नक़ल पश्चिम ने पूर्व से की है, न कि पूर्व ने पश्चिम से।"[1]

महात्मा बुद्ध और हज़रत ईसा की जीवन-सम्बन्धी घटनाओं में समानता

यह कुछ कम आश्चर्य की बात नहीं है कि जो विचित्र समानता हमने बौद्धधर्म और ईसाई मत के मध्य दिखाई है, वह इन दोनों धर्मों के प्रवर्त्तकों के जीवन चरित्रों में भी मिलती है। गौतमबुद्ध और ईसामसीह दोनों का जन्म, विलक्षण वा असाधारण रीति से होना कहा गया है। दोनों के जन्म-समय अद्भुत शकुन हुए थे तथा एक विशेष नक्षत्र का उदय हुआ था। गौतम-बुद्ध के जन्म से जिस नक्षत्र का सम्बन्ध था वह सुप्रसिद्ध 'पुण्य नक्षत्र' है।

गौतम की जीवनी में लिखा है कि जब वे उत्पन्न हुए तो उनके दर्शन करने को **असित** नामक एक ऋषि महाराज शुद्धोदन के समीप आये। ऐसे ही इञ्जील में लिखा है कि "राजा हैरड के समय में यहूदिया (देश) के **बैथलेहम** (नगर) में जब ईसा का जन्म हुआ तो यरुसलम के पूर्व से बुद्धिमान्

1 Ancient India, vol. II, pp. 835-6.

पुरुष यह कहते हुए आए कि यहूदियों का जो राजा पैदा हुआ है वह कहाँ है ? हमने उसका नक्षत्र पूर्व में देखा है अतएव हम उसकी पूजा के लिए आये हैं ।" (मत्ती, अ० २ आ० १-२)

गौतम के 'बुद्ध' होने के पूर्व मार (अर्थात् कामदेव) द्वारा प्रलोभित होने की गाथा उस कथा से बहुत समानता रखती है जिसमें हजरत ईसा को शैतान द्वारा फुसलाये जाने का वर्णन है[1] । गौतम और ईसा दोनों के बारह-बारह शिष्य वर्णन किये गये हैं । दोनों के हृदय में एक-ही-सा विश्वव्यापी और मंगलमय प्रेम था जिसके कारण दोनों ने जातपांत के भाव को छोड़कर मनुष्यमात्र को समान रूप से अपने-अपने मतानुसार सत्य का उपदेश किया । ये विचित्र समानतायें इस बात को सिद्ध करती हैं कि ईसाईमत की गाथा तथा वार्त्ताएँ भी, धार्मिक शिक्षा और रीति रिवाजों के समान, अधिकांश में बौद्धधर्म से ग्रहण की गईं ।

६—सारांश—

हमने यह सिद्ध किया है कि ईसा के जन्मकाल से पूर्व पैलस्टाइन में बौद्धधर्म प्रचार पा चुका था । दीक्षादाता, जोहन्ना John the Baptist द्वारा स्वयम् हजरत ईसा का भी उससे संसर्ग हुआ । हमने यह बात भी सिद्ध की है कि ईसाई और बौद्धधर्म के उपदेश, संस्कार, कृत्य, मन्दिर-निर्माण विधि आदि विषयों में ही नहीं प्रत्युत उनके सँस्थापकों की जीवन सम्बन्धी घटनाओं तक में विचित्र सदृशता मौजूद है । क्या ये सब आकस्मिक समानताएँ हैं ? मिस्टर राइस डेविड्स (Mr Rhys Davids) का कथन है कि "यदि ये आकस्मिक हैं तो इन घटनाओं का संघट्ट एक बहुत ही बड़ा चमत्कार Miracle है । वह वास्तव में १० सहस्र चमत्कारों के बराबर है ।"— Hibbert Lectures, 188 p. 193. हमारे सामने जो घटनाएँ मौजूद हैं उनके होते हुए इस परिणाम पर न पहुँचना असम्भव है कि ईसाई बौद्धधर्म का ऋणी है । प्रो० मैक्समूलर जैसे ईसाई ग्रन्थकार भी यह बात स्वीकार करने को बाध्य हुए हैं । जब सिद्ध करने के लिए प्रमाण-पर-प्रमाण दिये जाते हैं कि ईसाईमत की सच्चाईयाँ उससे पूर्ववर्त्ती धर्मों में मौजूद थीं तो प्रोफेसर साहब लिखते हैं कि "सब सच्चाईयाँ ईसाईमत से ही क्यों ली जायँ ? ईसाईमत भी अन्य धर्मों से क्यों न ले[2] प्रोफेसर मैक्समूलर ने

1. देखो मत्ती की ईज्जील अ. आ. 1-11
2. Gifford Lectures, pp. 10-11

"Chips from a German Workshop" नामक अपनी पुस्तक में—जिससे हम पूर्व भी एक वाक्य उद्धृत कर आये हैं—एक स्थल पर स्वीकार किया है कि "संसार के प्रारम्भ से ऐसा कोई धर्म ही नहीं हुआ जो सर्वथा मौलिक व नवीन कहा जा सके। यदि हम इसे एक बार स्पष्ट रूप से समझ लें तो सन्त औगस्टाइन के नीचे लिखे शब्द जिन्होंने बहुत-से मित्रों को चकित कर दिया सर्वथा विस्पष्ट और बोधगम्य हो जाते हैं। "जो अब ईसाईधर्म कहा जाता है वह प्राचीन लोगों में भी विद्यमान था और वह मनुष्य जाति के आरम्भ काल से हजरत ईशा के शरीर धारण करने तक बराबर रहा। ईसा के जन्म के समय से उस पूर्व प्रचलित सद्धर्म का नाम ईसाईमत पड़ा'। (August Rep. 1, 13) इस विचार से ईसा के वे शब्द भी जो उन्होंने कोपर नाम के सेनाधिपति से कहे और जिनसे यहूदी चकित हो गये थे, अपने वास्तविक अर्थ को ग्रहण कर लेते हैं। (वे शब्द ये हैं)—"पूर्व और पश्चिम से बहुत-से मनुष्य आवेंगे और स्वर्ग साम्राज्य में अब्राहम, इसराईल या याकूब के साथ बैठेंगे।"

यह स्वीकृति स्पष्ट है और सिद्ध करती है कि पाश्चात्य लोग पूर्व लोगों के उपकारों को क्रमशः कृतज्ञतापूर्वक मानते जाते हैं। श्रीयुत रमेशचन्द्रदत्त कहते हैं कि बनसेन (Bunsen), सीडिल (Seydil) और लिली (Lillie) जैसे कुछ ग्रन्थकार तो ऐसा मानते हैं कि ईसाईमत सीधा बौद्धधर्म से निकला है, परन्तु जैसा कि विद्वान् ग्रन्थकार (श्रीयुत रमेशचन्द्रदत्त) का विचार है—यह सम्मति सत्य की सीमा से बढ़ जाती है। ईसाईमत के ज्ञान-काण्ड सम्बन्धी सिद्धान्तों का बौद्धधर्म से बहुत कम सम्बन्ध है और उनका निकास यहूदीमत से है। परन्तु इस बात का खण्डन नहीं हो सकता कि ईसाईधर्म के वे उच्च सदाचारिक सिद्धान्त जिनके कारण वह यहूदीमत से उत्कृष्ट समझा जाता है, बौद्धधर्म से ग्रहण किये गये हैं अथवा दत्त महाशय के शब्दों में यों कह सकते हैं कि "प्राचीन धर्मों पर ईसाईमत की सदाचारिक सिद्धान्त सम्बन्धी उत्कृष्टता निस्संदेह एक मात्र बौद्धधर्म पर अवलम्बित है जिसकी शिक्षा ईसा के जन्मकाल के समय ऐसेनैस लोग पैलस्टाइन में दे रहे थे[1]।"

हम इस अध्याय को जर्मनी देश के प्रसिद्ध तत्त्वज्ञ शूपनहावर Schoupenhaur के विचार प्रकट करके समाप्त करते हैं—

1. Ancient India, vol. 11, p. 340

"जैसे कोई बेल सहारे के लिये किसी अनगढ़ या खुरदरे स्तम्भ पर चढ़ती है और हर जगह उसके तिर्छे व टेढ़े रूप के अनुकूल चलती है परन्तु साथ ही उनको जीवन और सुन्दरता से ढक देती है, जिससे वह आँखों को प्यारा लगने लगता है, उसी प्रकार ईसाई धर्म जो भारतवर्ष के विज्ञान से निकला यहूदी मतरूपी विदेशी वृक्ष पर लगाया गया; पुराने वृक्ष का असली रूप कुछ अंश तक बना रहा, परन्तु उसमें बहुत कुछ परिवर्तन होकर वह जीवन और सत्य से हरा-भरा हो गया। वह देखने में वही वृक्ष प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में उसका स्वरूप दूसरा है"।[1]

1 देखो Schoupenhaur "Religion and other Easays" p. 116

तृतीय अध्याय

बौद्धधर्म का आधार वैदिकधर्म है

१—महात्मा बुद्ध की शिक्षा का उद्देश्य किसी नवीन धर्म की स्थापना करना नहीं था

पिछले अध्याय में हमने ईसाईमत के निकास का पता लगाया है। हमने यह बात सिद्ध की है कि उसके धार्मिक सिद्धान्त यहूदीमत पर और सदाचारिक उपदेश बौद्ध धर्म पर निर्भर हैं। अन्त के दो अध्यायों में इस बात का उल्लेख किया जायगा कि ज़रदुश्ती मत के द्वारा यहूदी धर्म की उत्पत्ति वेद से है। इस अध्याय में ये बात सिद्ध की जायगी कि बौद्धधर्म या सदाचार सम्बन्धी उन उपदेशों का संग्रह—जिनका महात्मा बुद्ध ने प्रचार किया और जो ईसाई-मत के अभ्युत्थान में बहुत कुछ सहायक हुये सीधा वेदों से निकाला है। यह बात कदाचित् उन वेदानुयायियों को आश्चर्य का कारण होगी जो बौद्धधर्म को वैदिकधर्म का विरोधी मानते हैं। यह निश्चित है कि बुद्धदेव ने कभी नवीनधर्म की स्थापना का विचार तक नहीं किया। श्रीयुत् रमेशचन्द्रदत्त जो महात्मा बुद्ध की प्रशंसा करने में किसी से कम नहीं हैं स्वीकार करते हैं कि बुद्ध भगवान् ने कोई नवीन आविष्कार या नई ज्ञानोपलब्धि नहीं की थी[1]। वे फिर लिखते हैं कि "यह कल्पना करना एक ऐतिहासिक भूल होगी कि बुद्ध भगवान् ने जानबूझकर किसी धर्म विशेष का प्रवर्त्तक या आचार्य बनना चाहा। इसके विरुद्ध उनका तो अन्त समय तक यह विश्वास रहा कि वे उस प्राचीन पवित्र धर्म के सुन्दर स्वरूप का प्रकाश कर रहे हैं जो हिन्दू ब्राह्मण श्रमण और अन्य लोगों में प्रचलित था, परन्तु पीछे से बिगड़ गया था। यह बात यथार्थ है कि हिन्दू धर्म में ऐसे परिब्राजक, साधु-संन्यासी उपस्थित थे जो संसार को त्याग कर और वेदोक्त यज्ञादि न करते हुए केवल ध्यान में अपना समय व्यतीत करते थे। हिन्दूधर्म शास्त्रों में ऐसे साधुओं की 'भिक्षु' संज्ञा थी और साधारणतया उन्हें 'श्रमण' कहते थे। उस काल की अनेक श्रमण-शाखाओं में से गौतमबुद्ध ने केवल एक श्रमणशाखा की स्थापना की थी, जो औरों से पहचान के लिये "शाक्यपुत्रिय श्रमण" के नाम से पुकारी

1 Ancient India, vol, 11, p. 206.

जाती थी। बुद्ध ने उनको संसारत्याग, विशुद्धजीवन पवित्र धार्मिक विचार आदि उन्हीं बातों की शिक्षा दी जिनका उस समय के समस्त श्रमण लोग उपदेश और अनुष्ठान करते थे[1]।'

२—बौद्ध धर्म के एक पृथक् धर्म बन जाने का कारण—

अब यह प्रश्न हो सकता है कि महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं ने नवीन अथवा पृथक् धर्म का रूप क्यों धारण कर लिया ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये हमें उस समय के वैदिक धर्म की अवस्था जानने की आवश्यकता है जब बुद्ध भगवान् विद्यमान थे और अपने सिद्धांतों का प्रचार करते थे।

बुद्ध के प्रादुर्भाव से कुछ पूर्व वैदिक धर्म के इतिहास में घोर अन्धकार का समय था। वेद और उपनिषदों का पवित्र और प्रशस्तधर्म अवनत होकर निरर्थक कृत्य और हिंसा पूर्व "यज्ञादि" का स्वरूप ग्रहण कर चुका था। वैदिक वर्ण व्यवस्था (जो आरम्भ में गुण कर्मानुसार थी) बिगड़ कर वंश परम्परागत जातिभेद में परिवर्त्तित हो गई थी। इसका यह परिणाम हुआ कि ब्राह्मण लोगों ने केवल 'जन्म से' अपने को बड़ा मान कर वेदाध्ययन तथा उन सद्‌गुणों को त्याग दिया जिनके कारण उनके पूर्वजों की समुचित प्रतिष्ठा की जाती थी। यह सदाचारिक और धार्मिक अधःपतन केवल ब्राह्मणों तक ही परिमित न रह सका। संन्यासी लोग भी धार्मिक ज्ञान, आन्तरिक पवित्रता, मधुर शीलता आदि बातें छोड़ कर तपस्या का केवल बाहरी आडम्बर दिखलाने को रखते थे। साधारण लोग भी वैसे सीधे, सच्चे, पवित्र और सद्‌गुण सम्पन्न न रहे जैसे कि वैदिक काल में थे। वे लकीर के फकीर और विलास प्रियता के चेले बन गये। प्राचीन आर्यों के सात्त्विक भोजन का स्थान आमिषाहार ने छीन लिया। उसे शास्त्रोक्त सिद्ध करने के अभिप्राय से यज्ञों में पशुओं का वध किया जाता था और उनके माँस से आहुति दी जाती थी।

बुद्ध के प्रादुर्भाव के समय वैदिक धर्म या यों कहिये कि आर्यों की सामाजिक स्थिति इस प्रकार की हो गई थी। बुद्धदेव के हृदय पर पशु बलिदान और जातिभेद—इन दो बुराइयों का बड़ा प्रभाव पड़ा। उनका कोमल और प्रेमपूर्ण हृदय धर्म के नाम पर इतने निरपराध पशुओं के रक्त-प्रवाह को न सह सका। उनकी पवित्र आत्मा इस निकृष्ट और अन्याय पूर्ण जाति-भेद के विरुद्ध संग्राम करने को उद्यत हो गयी। और इसमें उन्हें

1. Ancient India, vol. 11, pp. 181—182.

मनुष्यमात्र के लिए सच्चा प्रेमी और उनके आधार के लिये विशेष उत्साह दिखलाया। वस्तुतः यह बुराई इतनी अधिक हो गई थी कि बुद्ध भगवान् के पूर्ववर्त्ती अनेक ग्रंथकारों ने भी उसे बुरा कहा था। सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक सब बातों में इस जातिभेद की व्यापकता हो गई थी। यहां तक कि देश के कानून पर भी प्रभाव पड़ चुका था। उस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के लिये पृथक्-पृथक् कानून बन गये थे। ब्राह्मणों के ऊपर अनुचित दया और शूद्रों के साथ अनुचित कठोरता का व्यवहार किया जाता था, यह बातें बहुत दिनों तक नहीं ठहर सकती थीं। शूद्र कितने ही धार्मिक और गुणवान् क्यों न हों परन्तु न तो उन्हें धार्मिक शिक्षा देने का ही कहीं प्रबन्ध था और न उनकी समाज में ही कुछ प्रतिष्ठा थी। वे लोग इन बेड़ियों को तोड़ फेंकने के अवसर की ताक में बैठे थे। वे उस निर्दय प्रथा के फंदे में फँसे हुए थे जिसने उन्हें उच्च सोसाइटी के संसर्ग से बुरी तरह बहिष्कृत कर रक्खा था, उनकी लालसा थी कि इस स्थिति में परिवर्तन हो। द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में भी ऐसे अनेक उच्चाशय उदार प्रकृति पुरुष थे जो उनकी इस लालसा से सहानुभूति रखते थे। अतएव 'क्रान्ति' का समय आ गया था। और इस विचार के लिये असाधारण दूरदर्शिता की आवश्यकता न थी कि समय आवेगा जब लोग इस हानिकर प्रथा के विरुद्ध युद्ध मचाकर अपनी बेड़ियों को तोड़ डालेंगे। वह अवसर आ गया। राजकुलोत्पन्न एक क्षत्रिय ने घोषणा की, कि समाज में मनुष्य की स्थिति जन्म से नहीं प्रत्युत गुणों से होती है। असंख्य मनुष्य उसके चारों ओर एकत्रित हो गये। ऐसी दशा में हम सहज ही में इस बात का अनुमान कर सकते हैं कि अत्याचार के भार से दबे हुए शूद्र लोग किस उत्साह से उनकी बातें सुनते होंगे। बहुत से द्विजन्मे आर्य लोग भी उनके पवित्र धार्मिक उद्देश्य से सहमत हो गये और बौद्धधर्म देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल गया।

महात्मा बुद्ध की सफलता तथा बिना इच्छा के भी उनके एक नवीन धर्म का प्रवर्त्तक बन जाने का ठीक कारण ऊपर कहा गया है। समाज-संशोधक अन्य महापुरुषों के समान बुद्ध भी बहुत अंश तक अपने समय के सुधारक थे। अविवेक-पूर्ण और निर्दय पशुबध तथा कृत्रिम और अपवित्र जातिभेद का साहसपूर्वक खण्डन करने में बुद्धदेव ने ऐसे तार को खींचा जिससे उनके समकालीनों के हृदय उनकी ओर आकर्षित हो गये। यदि उनका जन्म ऐसे समय में हुआ होता जब वे बुराइयाँ न होतीं तो उनका

बहुत ही कम प्रभाव पड़ता और सच तो यह है कि उन्हें अपने सुधार सम्बन्धी कामों के लिये अवसर ही न मिलता। परन्तु जिन दिनों उनका जन्म हुआ उन दिनों उन्होंने सहज में बहुसंख्यक लोगों को अपनी ओर खींच लिया, और इस प्रकार धीरे-धीरे वे एक नवीन धर्म के संस्थापक समझे जाने लगे।

४ बौद्धधर्म का विनाशक अथवा निषेधात्मक अंग—

महात्मा बुद्ध की शिक्षा के निषेधात्मक भाग के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहने की आवश्यकता है। उन्होंने विशेषतः दो अत्याचारों पर प्रबल रूप से आक्रमण किया। दत्त महाशय लिखते हैं कि—"गौतम अविचार-पूर्वक खण्डन करने वाले न थे और न सब प्राचीन प्रचलित प्रथाओं के अचेत और कट्टर विरोधी ही थे। उन्होंने उस समय तक किसी प्रथा या विश्वास के विरुद्ध हाथ नहीं उठाया जब तक कि उसको अनुपयोगी अथवा प्राचीन धर्म में पीछे का मिलाव न समझ लिया हो। उन्होंने जाति-पाँति का विरोध इस कारण किया कि वे उसको हानिकारक और **प्राचीन ब्राह्मण धर्म के पश्चात् का बिगड़ा हुआ रूपान्तर समझते थे।** उन्होंने वैदिक [यज्ञादि] कृत्यों की निरर्थकता इसलिये प्रकट की कि उस समय **उनकी विधि** बहुत ही मूर्खतापूर्ण, निरर्थक, निकृष्ट रूप में थी और उनमें अनावश्यक निर्दयतापूर्वक पशुओं के प्राणहरण किये जाते थे।[1]

यह प्रश्न हो सकता है कि क्या महात्मा बुद्ध ईश्वर का अस्तित्व अथवा वेदों को ईश्वरीय ज्ञान या प्रामाणिक पुस्तक मानते थे? ईश्वर विश्वास के संबंध में कहा जा सकता है कि वे नास्तिक नहीं थे, शायद अज्ञेयवादी Agnostic थे। ईश्वर या ईश्वरीय ज्ञान का न मानना बौद्धधर्म का कोई आवश्यक सिद्धांत नहीं है। ऐसा ज्ञात होता है कि उन्होंने आत्मसुधार और आत्मसंयम आदि के उपदेश करने पर ही सन्तोष किया और सृष्टि-सम्बन्धी ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर सोचने की चेष्टा ही नहीं की कि "क्या यह संसार अनादि और अनन्त है? यदि नहीं तो उसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई?" कदाचित् उनका यह विचार हो कि इन प्रश्नों के उत्तर कदापि सन्तोषजनक नहीं मिल सकते। उनके शिष्यों ने इस विषय में जानने के

1. Ancient India, vol. II.

लिये अनेक बार उनसे आग्रहपूर्वक[1] जिज्ञासा की परन्तु उन्होंने कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया।

निश्चय ही बौद्ध ग्रंथों में ऐसे अनेक स्थल[2] हैं जिनसे प्रकट होता है कि उन्होंने अपने शिष्यों को इस प्रकार की जिज्ञासा और शास्त्रार्थ करने के लिये उत्साह ही नहीं दिया।

सब्बासबसुत्त में ऐसे विषयों पर विवाद करने वाले का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"वह मूर्खता से ऐसे विचार करता है कि मैं भूतकालों में था या नहीं ? मैं भूतकाल में क्या था ? मैं भविष्यत्‌काल में रहूँगा या नहीं ? भविष्यत्-काल में मेरा क्या स्वरूप होगा ? या वर्त्तमान के लिये भी अपने मन में ऐसे विचार करता है मेरा अस्तित्व वास्तव में है या नहीं ? मैं क्या हूँ ? यदि मेरा अस्तित्व है तो कहाँ से आया और कहाँ जायेगा ?"

उनके विचार में भलाई करना ही धर्म था, या यों कहिये कि उन्होंने धर्म के कर्म-काण्ड सम्बन्धी भाग की ओर ही दृष्टि रक्खी, और ज्ञानकाण्ड तथा आध्यात्मिक भाग की ओर से सर्वदा उदासीन रहे। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में यह बड़ी भारी निर्बलता थी। इस प्रकार के प्रश्न उठते ही हैं और उनके उत्तर किसी न किसी रूप में देने ही चाहिये। जो धर्म इन बातों को टालना चाहता वा उनकी उपेक्षा करता है वह मनुष्य के आत्मा की भूख को नहीं बुझा सकता। परन्तु पिछले समय के बौद्धों ने इस त्रुटि की यह कह कर पूर्ति कर दी कि संसार जैसा कि अब है वैसा ही अनादि काल से चला आता है, अतएव इसके लिये रचने वाले की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार उन्होंने अपने धर्म को विशुद्ध नास्तिक बना दिया। परन्तु महात्मा बुद्ध का यह मन्तव्य न था, वे न तो संसार को नित्य ही कहते थे और न अनित्य। यद्यपि बौद्धधर्म आरम्भ में अज्ञेयवादी था परन्तु अन्य अज्ञेयवादी मतों के सदृश वह अन्त में नास्तिकमत हो गया। जैसा कि हम पूर्व कह चुके

1 उदाहरणार्थ :– एक समय मलयूक्य पुत्त नामक किसी व्यक्ति ने महात्मा गौतम से यह प्रश्न किया, परन्तु उन्होंने उत्तर दिया कि 'हे मलयूक्य पुत्त ! तुम आओ और मेरे शिष्य बन जाओ, मैं तुमको इस बात की शिक्षा दूँगा कि ससार नित्य है या नहीं।" मलयूक्य पुत्त ने कहा 'महाराज आपने ऐसा नहीं कहा।' बुद्ध जी बोले 'तो फिर इस प्रश्न को पूछने में आग्रह मत करो।' (देखो मज्झम निकाय कुल मलूक्यवाद) Quoted in Ancient India, vol. II, 239.

2 देखो सुत्त निपात, पशु सुत्त, और सुत्त, निपात, महा मोह सुत्त।

हैं कि उनकी सदाचारिक शिक्षा कैसी ही उत्तम क्यों न हो परन्तु धर्म की दृष्टि से वह एक बहुत बड़ा दूषण था। इस दोष के कारण ही अन्ततः भारतवर्ष में उसके भाग्य का अन्त हो गया। बौद्धधर्म प्रारम्भ में अत्याचारपूर्ण जाति-भेद और निर्दय पशुवध के विपरीत पवित्र विरोध करने तथा सदाचार और भलाई का सर्व साधारण को उपदेश देने के कारण ही इस देश में फैल गया था। परन्तु नास्तिक मत बन जाने के कारण वह इस देश से बहिर्गत कर दिया गया।

ईश्वर की सत्ता और वेदों के ईश्वरकृत होने के विषय पर महात्मा बुद्ध के विचार **तेविज्जसुत्त** से जाने जाते हैं, जिसके सम्बन्ध में महाशय राईस डैविड्स् Rhys Davids अपने अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में इस प्रकार लिखते हैं-"इस सुत का **नाम तेविज्ज सुत्त** केवल इसलिए है कि इस में गौतम का वर्णन **तेविज्ज** उपनाम से किया गया है। **तेविज्ज** का अर्थ है वेदों का ज्ञाता और यह पाली शब्द **त्रैविद्य** या **त्रयोविज्ञ** शब्द का अपभ्रंश है।

इस सुत्त का आरम्भ दो ब्राह्मण युवक वसिष्ठ और भारद्वाज के विवाद से होता है। विषय यह है कि ब्रह्म-प्राप्ति का सच्चा मार्ग क्या है ? वे दोनों गौतम बुद्ध के पास जाते हैं, जो ये बतलाते हैं कि यदि कोई ब्राह्मण वेदों को अच्छी तरह पढ़ा हो परन्तु सदाचारी न हो तो वह ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता। इस सुत्त के कुछ वचन नीचे दिये जाते हैं—

२५—हे वसिष्ठ ! इस प्रकार वे ब्राह्मण जो तीनों वेदों को पढ़कर भी उन गुणों का तिरस्कार करते हैं जिनसे मनुष्य ब्राह्मण बनता है और वे ऐसा पाठ करते हैं 'हम इन्द्र को पुकारते हैं, सोम को पुकारते हैं, वरुण को पुकारते हैं, ईशान को पुकारते हैं, प्रजापति को पुकारते हैं, ब्रह्मा को पुकारते हैं, महिद्धि को पुकारते हैं, यम को पुकारते हैं'। वसिष्ठ ! ये कभी सम्भव नहीं कि वे ब्राह्मण जो वेद पढ़े हुए हैं परन्तु उन गुणों का तिरस्कार करते हैं जिनसे मनुष्य वास्तव में ब्राह्मण बनता है और उन गुणों को धारण करते हैं जिनसे मनुष्य अब्राह्मण बनता व केवल स्तुति और प्रार्थना के कारण मृत्यु के पश्चात् जब शरीर छूट जाता है ब्रह्म को प्राप्त हो सके।

२७—हे वसिष्ठ ! इसी प्रकार पाँच पदार्थ काम की ओर ले जाने वाले हैं जो 'आर्य्य संयम' में बन्धन कहलाते हैं।

प्रश्न—वे पाँच पदार्थ क्या हैं ?

उत्तर—रूप जो आँख को प्रिय, रोचक और आनन्ददायक होते हैं परन्तु काम और मद को उत्पन्न करते हैं, इसी प्रकार के शब्द जो कान से सुने जाते हैं, इसी प्रकार की गन्ध जिनको नासिका ग्रहण करती है, इसी प्रकार के रस जिनको जिव्हा ग्रहण करती है, इसी प्रकार के अन्य पदार्थ जिनका शरीर को स्पर्श से अनुभव होता है। इन पांचों पदार्थों से काम की उत्पत्ति होती है और ये आर्य्य संयम में बन्धन कहलाते हैं। और हे वसिष्ठ ! वे ब्राह्मण जो वेद पढ़े हैं परन्तु इन पांचों पदार्थों के दास हैं जिनसे काम उत्पन्न होता है वे इनमें उन्मत्त हो जाते हैं, पतित हो जाते हैं और यह नहीं समझते कि वे कैसे भयङ्कर पदार्थ हैं और उनमें आनन्द मानते हैं।

२८—"हे वसिष्ठ ! यह सम्भव नहीं कि वे ब्राह्मण जो वेद पढ़े हैं परन्तु उन गुणों का तिरस्कार करते हैं जिनसे मनुष्य वास्तव में ब्राह्मण बनता है और उन गुणों को धारण करते हैं जिनसे मनुष्य वास्तव में अब्राह्मण बनता है और इन पाँच पदार्थों के दास हैं जिनसे काम उत्पन्न होता है, उनमें उन्मत्त होते हैं, पतित होते हैं। और उनके भयङ्कर स्वरूप को न समझते हुए उनमें आनन्द मानते हैं, ये ब्राह्मण मरने के पीछे शरीर छूटने पर ब्रह्म को प्राप्त कर सकें यह सम्भव नहीं।"

इसके आगे महात्मा बुद्ध वसिष्ठ ने ब्रह्म के गुणों के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न करके ऊपर कहे हुए नामधारी ब्राह्मणों के गुणों से अन्तर दिखलाते हैं, और इस प्रकार उपदेश करते हैं—

३७—"अच्छा वसिष्ठ ! तुम यह मानते हो कि ऐसे ब्राह्मण जिनके हृदय क्रोध और द्वेष से रहित और संयमस्वरूप और पाप रहित हैं तो फिर क्या ऐसे ब्राह्मणों में और ब्रह्म में कोई समानता व स्वरूपता नहीं हो सकती है ?"

हे गौतम ! नहीं हो सकती है।

३८—"अच्छा वसिष्ठ ! यह सम्भव नहीं कि ये ब्राह्मण वेद पढ़े होने पर भी अपने हृदय में क्रोध और द्वेष धारण किये हैं, जो पापी और असंयमी हैं, मरने के पीछे शरीर को छोड़ने पर उस ब्रह्म को प्राप्त कर सकें जो क्रोध और द्वेष रहित, पाप रहित संयम स्वरूप है[1]।"

1. देखो 'बौद्ध सुत्त' Budhist Suttas (Sacred Books of the East Series पृ० १८०–१८५)

इसके पश्चात् एक सच्चे भिक्षु के शुद्ध जीवन का वर्णन करके महात्मा बुद्ध इस प्रकार उपदेश करते हैं।

३९—अच्छा वसिष्ठ! तुम मानते हो कि यह भिक्षु क्रोध और द्वेष से रहित है, शुद्ध चित्त वाला और संयमी है, और ब्रह्म भी क्रोध और द्वेष से रहित, शुद्धस्वरूप और संयमस्वरूप है तो हे वसिष्ठ! यह हर प्रकार सम्भव है कि वह भिक्षु जो क्रोध और द्वेष से रहित है शुद्ध चित्तवाला और संयमी है, मरने के पीछे शरीर छोड़ने पर ब्रह्म को प्राप्त कर सके जिसका वैसा ही स्वरूप है[1]।"

यह स्पष्ट है कि इस सुत्त में महात्मा बुद्ध ने वेदों की निन्दा नहीं की किन्तु अपने समय के उन ब्राह्मणों की निन्दा की है जो वेदों के जानने का अभिमान करते हुए ब्राह्मणों के गुणों से रहित थे। महाशय राईश डैविड ने उनकी तुलना बाइबिल फ़ारसियों और लेखकों Phorisees and Scribes से की है।

यदि महात्मा बुद्ध ईश्वर के विषय में संदिग्ध थे तो ईश्वरीय ज्ञान पर भी विश्वास न कर सकते थे। वेदों से उनका विरोध नहीं था किन्तु उदासीनता थी। इस उदासीनता का कुछ तो यह कारण था कि वे वेद से अनभिज्ञ थे और कुछ उस समय का यह विश्वास कि वेद पशुवध और जातिभेद की आज्ञा देते हैं। यदि वे वेदवेत्ता होते, यदि उन्होंने प्रेमभाव और समानता के उपदेशों का वेदों के विशुद्धार्थों की प्रामाणिकता के आधार पर प्रचार किया होता तो वे नये धर्म के संचालक न होकर हमारे ही समय के स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे वैदिक सुधारक बन जाते। यदि उस समय के लोग कुछ कम संकुचित विचारों के होते, वेद की वास्तविक शिक्षा का अधिक ज्ञान रखते तथा दूसरे को ग्रहण करने की अपेक्षा अपने ही धर्म का संशोधन करते, तो प्राचीन धर्म के होते हुए देश में नवीनमत स्थापित होने की दुर्घटना न हो पाती और इस प्रकार भारतवर्ष में फूट न फैलती जिसके कारण चिरकाल तक दोनों मतों के अनुयायियों के मध्य भीषण युद्ध की अग्नि जलती रही।

बौद्ध धर्म का विधायक अथवा विद्यात्मक अंग

महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं के विधायक-भाग के सम्बन्ध में हमें अधिक

1 देखो "बौद्ध सुत" पृ० ३०२

कुछ नहीं कहना। उन्होंने वैदिक धर्म-विहित बातों का उपदेश किया अर्थात् आत्म सुधार, आत्मसंयम, मनुष्य जाति और प्राणिमात्र के प्रति मैत्रीभाव, शुभ कर्म और आन्तरिक पवित्रता का प्रचार किया। बुद्ध ने जिन चार प्रधान बातों का उपदेश दिया वे निम्नलिखित हैं:—

१ जीवन दुःखमय है, २—दुःख का कारण इच्छा वा तृष्णा है। ३—तृष्णा के नाश से दुःख की निवृत्ति होती है। ४—तृष्णा के नाश के नीचे लिखे आठ प्रकार के मार्ग हैं:—

१. सत्य विश्वास
२. सत्य कामना
३. सत्य भाषण
४ सत्याचरण
५. सत्य जीविका साधन
६. सदुद्योग
७. सत्य संकल्प
  और
८. सत्य विचार

(देखो महा वाग्य १ ६ Quoted in Ancient India, vol. 11 p. 2. 1.) हमें यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त बातों का वैदिक धर्म और दर्शनशास्त्र सम्बन्धी विविध पुस्तकों में अनेक बार वर्णन आया है। उदाहरणार्थ हम न्याय दर्शन का दूसरा सूत्र उद्धृत करते हैं--

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः। न्याय १। १। ३।

दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्या ज्ञान इनमें से एक के नाश से उससे पूर्व पूर्व वर्णित नष्ट हो जाता है और दुःख का निवारण ही मुक्ति है।

इसका भावार्थ यह है कि मिथ्या ज्ञान से दोष वा बुरी इच्छाएँ होती हैं, उनसे जन्म की प्रवृत्ति होती है और जन्म ग्रहण करना पड़ता है और यह जन्म ही दुःखों की जड़ है। इसी क्रम से एक की निवृत्ति होने से दूसरे की निवृत्ति होती चली जाती है। अर्थात् जन्म व जीवन के साथ दुःख का सम्बन्ध अवश्य है। (बुद्ध का प्रथम उपदेश) दुःख और जन्म का कारण जीवन की इच्छा या तृष्णा है। (दूसरा उपदेश) इच्छा और जन्म-प्रवृत्ति

नष्ट होने पर दुःख की निवृत्ति हो जाती है। (तीसरा उपदेश) इच्छा और जन्म-निवृत्ति का नाश सत्यज्ञान द्वारा होता है (चौथे उपदेश का भाग)

निम्नलिखित पाँच आज्ञाओं का पालन करना समस्त बौद्धों का, चाहे भिक्षु हों वा गृहस्थ, परम कर्त्तव्य है :—

१—किसी प्राणी कि हिंसा न करे।

२—उस वस्तु को ग्रहण न करे जो उसे नहीं दी गयी।

३—मिथ्या भाषण न करे।

४—मादक द्रव्यों का सेवन न करे।

५—व्यभिचार न करे।

दत्त महाशय लिखते हैं कि 'ये निस्सन्देह वसिष्ठ के पंच महापातकों से सूझी हैं[1]।

परन्तु हम इन पाँचों का सम्बन्ध महर्षि पातंजलि रचित योगसूत्र के पाँच यमों से समझते हैं।

'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः।

योग अ० १। पा० २। सू० ३०॥

जीवों की हिंसा न करना, असत्य भाषण न करना, चोरी न करना, व्यभिचार न करना, विषय-भोग अथवा इन्द्रिय-लोलुपता में अधिक न फंसना, ये पाँच यम हैं।

बौद्ध धर्म जिसका महात्मा बुद्ध ने प्रचार किया केवल सदाचार का उपदेश है अन्य कुछ नहीं। बौद्ध धर्म के सदाचारिक उपदेशों का पता वैदिक धर्म की पुस्तकों से सहज ही में लगाया जा सकता है। दत्त महाशय लिखते हैं कि बौद्ध धर्म ने यह पवित्र पैतृक सम्पत्ति प्राचीन हिन्दुओं से प्राप्त क और अपने पवित्र साहित्य में सुरक्षित कर ली। महात्मा गौतम द्वारा निर्धारित धर्मों में वे समस्त बातें पाई जाती हैं जो धर्म सूत्रों में सर्वोत्कृष्ट और सर्वोत्तम हैं।[2]

---

1 गुरु वसिष्ठ जी के बताये पांच महापातक ये हैं :—गुरु-पुत्रों से व्यभिचार, मादक द्रव्यों का पान, हत्या करना, चोरी करना, पतित लोगों से आत्मिक वा वैवाहिक सम्बन्ध रखना।" (१। १९ से २१ तक Quoted in Ancient India, vol. 11, page 103)

2 Ancient India, vol. 11, page 268.

६

प्रोफेसर मैक्समूलर महात्मा बुद्ध के सम्बन्ध में लिखते हैं—"ब्राह्मणों की ओर उनके विरोध की बहुत कुछ अत्युक्ति की गई है और अब हम इस बात को जान गये हैं कि गौतम बुद्ध के बहुत से उपदेश वास्तव में उपनिषदों के ही उपदेश थे[1] ।"

हमने यह सिद्ध किया कि महात्मा बुद्ध ने किसी **नवीन** धर्म या **नवीन** ज्ञान का प्रचार नहीं किया । उन्होंने कुछेक उन दूषणों का खण्डन किया जो सत्य वैदिक धर्म के अंग नहीं थे पर जो पीछे से उस में मिल गये थे । अन्य बातों में उन्होंने वैदिक धर्म के उपदेशों का प्रचार किया । अतएव बौद्ध धर्म जिससे हमारा अभिप्राय गौतम की उत्कृष्ट शिक्षा है, वैदिक धर्म पर अवलम्बित है ।

5 देखो मैक्समूलर कृत Three Lectures on Vedanta Philosophy, p. 113.

चतुर्थ अध्याय

यहूदी मत का आधार ज़रदुस्ती मत है

यद्यपि उसके अनुयायियों की
संसार के प्रधान धर्म अर्थात्
हे अब यहूदी मत थोड़े से
ो भी इससे यह न समझना
। मुसलमान लोग स्वीकार
का स्पष्ट उल्लेख है कि उनके
बी गयी है। यद्यपि मुसलमान
वट करने का दोष रखते हैं,
साहब के सम्बन्ध की कुछ
काल दिया तथापि वह हज़रत
रों को ईश्वर के भेजे हुए दूत
का उद्योग उन्हें सम्भवत:
ईश्वरीय ज्ञान पारसियों से
ी धार्मिक शिक्षा स्वयं हज़रत
न है, यहूदी मत को ईश्वरीय
र्तमान काल में प्राचीन समय
का विशेषरूप से कृतज्ञ होना
यदि यहूदी मत की उत्पत्ति
अन्वेषण हमको न मिले तो
ाई विद्वान् यहूदी मत को
हैं।

करने के लिये कि यहूदी मत विशेषतः ज़रदुस्ती मत पर अवलम्बित है, यथेष्ट प्रमाण उपस्थित हैं। दोनों मतों के मध्य इतनी अधिक और विलक्षण समानताएँ मौजूद हैं जिनके कारण इस परिणाम पर पहुँचना आवश्यक हो जाता है कि एक के विचार दूसरे में पहुंचे। प्रोफ़ेसर मैक्समूलर भी इससे इन्कार नहीं करते, यदि

प्रोफेसर मैक्समूलर महात्मा बुद्ध के सम्बन्ध में लिखते हैं—"ब्राह्मणों की ओर उनके विरोध की बहुत कुछ अत्युक्ति की गई है और अब हम इस बात को जान गये हैं कि गौतम बुद्ध के बहुत से उपदेश वास्तव में उपनिषदों के ही उपदेश थे[1] ।"

हमने यह सिद्ध किया
ज्ञान का प्रचार नहीं किया
जो सत्य वैदिक धर्म के अं
अन्य बातों में उन्होंने वै
बौद्ध धर्म जिससे हमारा अ
पर अवलम्बित है।

5 देखो मैक्समूलर कृत Three Lectures on Vedanta Philosophy, p. 113.

चतुर्थ अध्याय

यहूदी मत का आधार ज़रदुस्ती मत है

१. प्रारम्भिक—

अब हम यहूदी मत की ओर आते हैं। यद्यपि उसके अनुयायियों की संख्या सम्प्रति बहुत ही थोड़ी है तथापि उससे संसार के प्रधान धर्म अर्थात् ईसाई और मुसलमान मत निकले हैं—चाहे अब यहूदी मत थोड़े से तिरस्कृत लोगों का धर्म रह गया हो परन्तु तो भी इससे यह न समझना चाहिए कि उसके समर्थकों की संख्या कम है। मुसलमान लोग स्वीकार करते हैं और स्वयं कुरान में भी इस विषय का स्पष्ट उल्लेख है कि उनके धर्म की नींव प्रायः एकमात्र यहूदी मत पर रक्खी गयी है। यद्यपि मुसलमान लोग यहूदियों पर अपने ग्रन्थों में कुछ मिलावट करने का दोष रखते हैं, तथापि उनका यह विश्वास है कि मुहम्मद साहब के सम्बन्ध की कुछ भविष्यत् वाणियों की जो उनमें मौजूद थीं, निकाल दिया तथापि वह हज़रत मूसा और पुरानी धर्म-पुस्तक के अन्य ग्रन्थकारों को ईश्वर के भेजे हुए दूत (पैगम्बर) मानते हैं। इस बात की सिद्धि का उद्योग उन्हें सम्भवतः अरुचिकर होगा कि यहूदी पैगम्बरों ने अपना ईश्वरीय ज्ञान पारसियों से प्राप्त किया। इसी प्रकार ईसाई लोग भी जिनकी धार्मिक शिक्षा स्वयं हज़रत ईसा के कथनानुसार यहूदी मत पर अवलम्बित है, यहूदी मत को ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध करने की चिन्ता में ग्रस्त होंगे। वर्त्तमान काल में प्राचीन समय की बड़ी-बड़ी अन्वेषणाओं के लिये हमें जिनका विशेषरूप से कृतज्ञ होना चाहिए वे अधिकतर ईसाई लोग हैं। इसलिये यदि यहूदी मत की उत्पत्ति के विषय पर कुछ अधिक आलोचनात्मक अन्वेषण हमको न मिले तो आश्चर्य की बात नहीं है। बहुत कम ईसाई विद्वान् यहूदी मत को ज़रदुश्तियों का ऋणी ठहराने के लिये तय्यार हैं।

२. सम्बन्ध का मार्ग—

हमारी सम्मति में इस बात को सिद्ध करने के लिये कि यहूदी मत विशेषतः ज़रदुश्ती मत पर अवलम्बित है, यथेष्ट प्रमाण उपस्थित हैं। दोनों मतों के मध्य इतनी अधिक और विलक्षण समानताएँ मौजूद हैं जिनके कारण इस परिणाम पर पहुँचना आवश्यक हो जाता है कि एक के विचार दूसरे में पहुंचे। प्रोफ़ेसर मैक्समूलर भी इससे इन्कार नहीं करते, यदि

करते तो आश्चर्य की बात होती। परन्तु वे यह कहते हैं कि "इस प्रकार के विचारों की ओर दृष्टिपात करने से पूर्व उस मार्ग को दिखलाना आवश्यक है जिसके द्वारा समान विचारों का 'अवस्ता' से 'पैदायश की किताब' में अथवा 'पैदायश की किताब' से 'अवस्ता' में पहुंचना सम्भव हो सकता है[1]।"

ऐसा मार्ग सुलभतापूर्वक दिखलाया जा सकता है। डाक्टर स्पीगल ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ज़रदुश्ती और इबराहीम[2] दोनों एक ही स्थान में हुए (बाइबिल के अनुसार ईसा से लगभग १९७१ वर्ष पूर्व) बाइबिल बतलाता है कि हज़रत इबराहीम हैरन के निवासी थे, और ज़िन्दावस्ता से ज्ञात होता है कि ज़रदुस्त का जन्म 'आर्यानां बीज' Aryanam Veiga अर्थात् (आर्यों का बीज) नामक स्थान में हुआ। प्रोफेसर मैक्समूलर ही नहीं, प्रत्युत अनेक शब्द शास्त्रवेत्ताओं की भी सम्मति है कि 'आर्यानां बीज' **'औक्सस और जैक्सरटीज'** नदियों के मध्य फारिस के पश्चिमीय भाग में होना चाहिये और उसका उक्त नाम पड़ने का कारण यह था कि वह आर्यों का निवास-स्थान था जिससे आर्य्यावर्त्तीय और ईरानी दोनों आये। डाक्टर स्पीगल का विचार है कि फ़ारसी **ऐरन** पुराने 'आर्यानां बीज' नाम का केवल संक्षिप्त रूप है।

स्वयं प्रोफेसर मैक्समूलर ही दोनों मतों के बीच संबंध का दूसरा मार्ग बताते हैं। वे कहते हैं कि "डाक्टर स्पीगल अपने विश्वासानुसार इबराहीम और ज़रदुश्त के प्राचीन मिलने के स्थान को निश्चित करके यह युक्ति देते हैं कि जो विचार **पैदायश की किताब और अवस्ता** में समान हैं उनका सम्बन्ध उसी प्राचीन काल से होना चाहिये जिसमें यहूदी और पारसियों के धर्माचार्य इबराहीम व ज़रदुस्त के मध्य परस्पर भेंट होने की सम्भावना थी। ... ... यह प्रसिद्ध है कि लगभग एक ही समय और एक ही सिकन्दरिया[3] नामक स्थान पर जहाँ 'पुरानी धर्म पुस्तक' का यूनानी भाषा में अनुवाद हुआ था,—पास सन् ईस्वी से पूर्व तीसरी शताब्दी में सिकन्दरिया स्थान पर **पैदायश की किताब और अवस्ता** के मानने वालों में परस्पर

1. Chips from a German Workshop, vol. 1., p. 149.
2. यहूदियों के सबसे पहले पैगम्बर जिनका वर्णन तोरेत में है—इबराहीम Ibraham थे।
3. मिश्रदेश Egypt की राजधानी सिकन्दरिया नगर है।

संघर्ष होने का ऐतिहासिक प्रमाण है । यह उस विचार-परिवर्त्तन का सुलभ मार्ग है जिसका डाक्टर स्पीगल के मतानुसार इबराहीम और ज़रदुश्त के समय में **ऐरन** के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर होना सम्भव नहीं[1] ।

यह एक नया प्रमाण इस बात का माना जा सकता है कि पिछले समय में भी दोनों मतों के मध्य विचार परिवर्त्तन हुआ, परन्तु हमारी तुच्छ सम्मति में इससे डाक्टर स्पीगल की उस सम्मति का खण्डन नहीं होता कि उस प्राचीन समय में भो विचार-परिवर्त्तन हुआ कि जब ज़रदुश्त और इबराहीम की विद्यमानता थी । वास्तव में यह समझना कठिन है कि प्रोफेसर साहब की सम्मति से 'पैदायश की किताब' और 'अवस्ता' के समान विचारों का समाधान किस प्रकार हो सकता है । क्योंकि प्रो० मैक्स-मूलर की सम्मति के अनुसार सन् ईसवी से पूर्व तीसरी शताब्दी में सिकन्द-रिया स्थान पर उक्त दोनों पुस्तकों का अनुवादमात्र किया गया था—रचना नहीं हुई । डाक्टर स्पीगल के इस विचार का समर्थन कि इबराहीम और ज़रदुश्त समकालीन थे, उनकी आचार सम्बन्धी समानता से भी बहुत कुछ होता है । स्वयं प्रोफेसर मैक्समूलर स्वीकार करते हैं कि "हम डाक्टर स्पीगल से इस बात में सहमत हैं कि ज़रदुश्त के आचार्य यहूदी धर्माचार्यों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं । वे उरमुज़द (ईश्वर) से भेंट करने योग्य समझे गये । उन्होंने उरमुज़द से डाक्टर स्पीगल के कथनानुसार ईश्वरीय ज्ञान का एक-एक अक्षर नहीं तो एक-एक शब्द अवश्य ग्रहण किया[2] ।

वस्तुत: उनमें इतनी घनिष्ठ समानता है कि डाक्टर हॉग (Dr. Haug) लिखते हैं "कई मुसलमानी किताबों में, विशेषकर फ़ारसी 'अवस्ता' का भी उसी भाषा में उल्था किया गया । इस प्रकार हमारे भाषा के कोषों में, जारदुश्त और इबराहीम पैग़म्बर को एक ही व्यक्ति बताया गया है[3] ।"

यहूदीमत में ज़रदुश्ती विचारों के प्रवाह का दूसरा मार्ग उस ऐतिहा-सिक घटना से जाना जाता है जो बैबिलन के नाम से प्रसिद्ध है । ईसा से ५८७ वर्ष पूर्व बैबिलन के सम्राट् नबूशद नज़र ने पैलस्टाइन पर आक्रमण किया और यरुसलम को जीतकर बहुत से यहूदियों को राजधानी में ले

1. Chips, vol. I., p. p. 150, 510
2. Chips, vol. I., p. 158
3. Dr. Haug's Essays on the Sacred Language, Writing and Religon of the Parsis; p. 16

गया। उसने उनका साहित्य विनष्ट कर उनको अपना बँधुआ बना लिया। इससे कोई सौ वर्ष के पश्चात् फ़ारसी सम्राट् खुसरो ने बैबिलन के साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर डाला, और कुछेक यहूदियों को यरुसलम में इस अभिप्राय से जाने की आज्ञा दे दी कि वे वहाँ जाकर इबरानी (यहूदी) साहित्य की पुनः स्थापना करें। यरुसलम वापिस आने पर सन् ईसवी से ४५० वर्ष पूर्व **एजरा और नेहमिया** ने 'पुराने धर्म पुस्तक' का सम्पादन और संकलन किया। जो पुरुष हज़रत मूसा को पंजनामे का कर्त्ता नहीं मानते, उनका मत है कि एजरा और नेहमिया ने उसी समय उसकी रचना की। इस प्रकार यहूदियों की परम प्राचीन पुस्तकें उस समय लिखी गईं या नये सिरे से संकलित की गई जब वे लोग ज़रदुश्तियों के मध्य चिरकाल तक रह चुके थे।

मैडम ब्लैवट्स्की (Madam Blavatsky) इस विचार की केवल पुष्टि ही नहीं प्रत्युत इससे बढ़कर ऐसा मानती हैं कि हज़रत मूसा की समस्त कहानी कल्पित है और बैबिलन के राजा **सरगन** की कथा की नक़लमात्र है। "एजरा ने सारे पंजनामे को नवीन रूप में डाला। फ़रयून की पुत्री नीलनदी, और उसमें नागरमोथा की नाव में बालक के तैरते हुए पाये जाने की कथा आरम्भ में हज़रत मूसा ने न तो स्वयं बनाई और न उनके लिये किसी और ने बनाई। यह कथा बैबिलन के खण्डहरों की खपरैलों पर राजा सरगन की कहानी में जो मूसा से बहुत पूर्व हुए, मौजूद थी।" अब तर्क-दृष्टि से विचार करने पर क्या परिणाम निकलता है? निस्सन्देह यही जिससे हमें यह कहने का अधिकार होता है कि जिस कथा का एजरा ने मूसा के सम्बन्ध में वर्णन किया है उसको उन्होंने बैबिलन में लिखा था, और उन्होंने उस अलङ्कार को जो सरगन के विषय में था, यहूदी आचार्य (मूसा) से सम्बन्धित कर दिया। सारांश यह है कि 'यात्रा की पुस्तक'[1] मूसा की रची कदापि नहीं प्रत्युत एजरा ने पुरानी सामग्री से उसकी दोबारा रचना की थी।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि उस मार्ग के बताने में जिसके द्वारा यहूदियों ने पारसियों से अपने धार्मिक विचार ग्रहण किये, कोई कठिनता नहीं है। अब हम दोनों मतों के मध्य सिद्धांत सम्बन्धी समानता दिखाने

1. बाईबिल में 'पुराने धर्म पुस्तक' के एक भाग का नाम है और पंजनामे की पाँच पुस्तकों में से एक है।
2. Secret Doctrine, vol. I., p.p. 319-320

के लिये आगे बढ़ते हैं। ईसाई ग्रन्थकारों को भी बहुत दिनों से यह प्रतीत होता आया है कि सिद्धान्त सम्बन्धी अनेक समानताएँ हैं। डाक्टर हॉग जिनके लेख पारसीमत के सम्बन्ध में बड़े प्रमाणिक हैं इस बात को स्वीकार करते हैं। पहले यह लिखकर कि ज़रदुश्तीमत, यहूदीमत से उतना विरुद्ध नहीं है जितने की अन्य प्राचीन मत हैं, वे लिखते हैं कि— "ज़रदुश्तीमत यहूदी और ईसाई मतों के साथ अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध अथवा समानता दिखाता है जैसे शैतान का व्यक्तित्व और उसके गुण, और मुरदों का उठाना, इन दोनों का सम्बन्ध पारसीमत से है, और वास्तव में यह पारसियों के वर्त्तमान धर्म-ग्रन्थों में पाये जाते हैं[1]।"

अब हम इन सिद्धान्तों की यथाक्रम विवेचना करेंगे।

२. **ईश्वर विषयक विचार—**

डाक्टर हॉग साहब ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में इस बात को स्वीकार किया है कि बाइबिल और ज़न्दावस्ता ईश्वर सम्बन्धी बातों में प्राय: एक ही प्रकार की शिक्षा देते हैं। वे कहते हैं—स्पितामा ज़र्दुश्त का विचार अहुर मज़दा[2] को ईश्वर मानने के सम्बन्ध में पुराने अहदनामे की पुस्तकों में वर्णित ज़ोहोवा[3] ऐलोहिम (ईश्वर) विषयक विचारों से पूणरूपेण समता रखता है। वह अहुरमज़दा को आधिभौतिक और आध्यात्मिक जीवन का उत्पादक तथा अखिल विश्व का स्वामी बताते हैं, जिसके आधीन सारे प्राणी रहते हैं। यह प्रकाशस्वरूप और प्रकाश का मूल-स्थान है, वह बुद्धि और ज्ञान स्वरूप है"।[4]

यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि समानता बाइबिल और जन्दावस्ता में प्रयुक्त ईश्वर के नामों तक में पाई जाती है। जन्दावस्ता **हरमज़द** यष्ट में, अहुरमज़दा अपने २० नामों की गणना करता है। पहला नाम 'अह्मि' (संस्कृत अस्मि) अर्थात् 'मैं हूँ' और पिछला 'अह्मि यद् अह्मि

1 Haug's Essays, p. 4.

2 जन्दावस्ता में ईश्वर का मुख्य नाम 'अहुरमज़दा' है जो वैदिक 'अहुरमेधा' का रूपान्तर है। देखो अ. ५ अं. १।

3 बाइबिल में ईश्वर का मुख्य नाम जैहोवा है।

4 Haug's Essays, p. 30.

(संस्कृत अस्मि यद् अस्मि) अर्थात् 'मैं हूँ जो मैं हूँ' हैं। ये दोनों वाक्य बाइबिल में जेहोवा के नाम भी हैं और ईश्वर ने मूसा से कहा :—"मैं हूँ जो मैं हूँ' Ehyeh asher Ehyeh, और उसने कहा कि उसी प्रकार तू इसराईल की सन्तान से कहेगा कि मुझे तुम्हारे पास 'मैं हूँ' ने भेजा है[1]।" इन नामों में अधिक समानता है कि उसे आकस्मिक नहीं कह सकते।

डाक्टर स्पीगल की सम्मति है (यद्यपि प्रोफेसर मैक्समूलर उसे संदिग्ध बताते हैं) कि "**अहुर** शब्द (जो ज़न्दावस्ता में ईश्वर का मुख्य नाम है) **यहूगा** वा **जेहोवा** शब्द से अर्थ में समानता रखता है। डाक्टर स्पीगल कहते हैं कि **अहूर** और **अहु** के अर्थ ईश्वर के हैं। वह अवश्य **अह** (संस्कृत **अस**) से बना है, जिसके अर्थ होने के हैं इसलिए **अहुर** के वही अर्थ हैं जो यहूवा के हैं अर्थात् "वह जो है"।[2]

महाशय बाल गंगाधर तिलक ने अपने ग्रन्थ 'वेद और वेदांग ज्योतिष का समय' में **जहोवा** या **यह्व** शब्द का सम्बन्ध सीधा वैदिक साहित्य से दिखलाया है। वे लिखते हैं—"इसमें संदेह नहीं कि **जहोवा** शब्द वही है जो काल्डियन भाषा का **यह्व** है। ऋग्वेद में **यहू** (जन्द यजु) **यह्वत** और स्त्री लिगरूप **यह्वी** और **यह्वती** शब्द कई बार आये हैं और ग्रासमन साहब ने उनकी व्युत्पत्ति यह्व धातु से की है जिसका अर्थ वेग से चलाना है। निघण्टु में यह शब्द **जल** के अर्थ में (नि० १।१२) और बल के अर्थ में (नि० २-६) आया है और गुणवाचक **यह्व** (नि० ३-३ निरुक्त ८-८) का अर्थ महान् है। इस अर्थ में यह्व शब्द ऋग्वेद में सोम के लिए (ऋ० ९।७५) में अग्नि के लिए (ऋ० ३।१।१२) में इन्द्र के लिए (ऋ० ८।१३।२४) में आया है। अधिक प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं। एक मन्त्र (ऋ० १०।११०।३) में यह शब्द सम्बोधन में आया है और अग्नि के लिए कहा गया है यह्व !" (पृष्ठ ११८)

तिलक महाशय ने इस प्रकार यह सिद्ध किया है कि यह्व आरम्भ में वैदिक शब्द था, और चाहे मूसा ने इस शब्द को काल्डियन भाषा से लिया हो परन्तु ये शब्द उस भाषा का नहीं क्योंकि उसमें इस शब्द के और कोई रूप नहीं मिलते। तिलक महाशय का विचार है कि काल्डियन भाषा में यह शब्द भारतवर्ष से गया।

1 यात्रा की पुस्तक ३। १५

2 Chips, vol. I, p. 158.

पारसी लोग अग्नि की बड़ी प्रतिष्ठा करते हैं, यह प्रसिद्ध बात है। वे दिन गए जब पारसियों पर अग्निपूजक होने का लांछन लगाया जाता था। परन्तु यह बात स्वीकार करनी पड़ती है कि वे लोग अग्नि में ईश्वर व उसकी शक्ति का सर्वोच्च प्रादुर्भाव वा प्रकाश मानते हैं। यसन ३२०-१ का शीर्षक है कि "अग्नि अहुरमज़दा का चिह्न है जो उसकी प्रज्वलित शिखा में प्रकट होता है।" इसकी अग्निपूजा से तुलना करना न्याय नहीं है। यदि यह अग्निपूजा है तो, जैसा ब्लैवटस्की ने ठीक लिखा है कि जो ईसाई ईश्वर को सजीव अग्नि बताता है और जो पवित्रात्मा के उतरते समय अग्नि की 'जिह्वा' व मूसा की 'जलती हुई झाड़ियों' की बात कहता है वह भी वैसा ही अग्निउपासक है जितना कि कोई अन्य जो ईसाई नहीं है।[1] पुराने अहदनामे में यह वर्णन किया गया है कि तेरा प्रभु ईश्वर क्षय करने वाली अग्नि है।[2] इस प्रकार जन्दावस्ता के अनुसार ही बाइबिल भी ईश्वर को अग्नि रूप में वर्णन करता है। वस्तुतः पंजनामे में साधारणतया परमेश्वर अग्नि के बीच में प्रकट होता है। हम **'यात्रा की पुस्तक'** का उदाहरण देते हैं। "ईश्वर ने हज़रत मूसा से कहा, देख मैं तुझ तक घने बादलों में आता हूँ जिससे जब मैं तुझ से बोलूँ तो सब लोग सुनें और सदैव तेरा विश्वास करें।" मूसा ने लोगों की बातें ईश्वर से कहीं और "तीसरे दिन प्रातःकाल ऐसा हुआ कि मेघ गर्जने लगे और बिजली चमकने लगी और एक घना बादल पर्वत के ऊपर आ गया। नरसिंह के स्वर से अधिक तीव्र शब्द हुआ कि लश्कर के समस्त लोग काँपने लगे और सिनाई पर्वत धूम्राच्छादित हो गया क्योंकि ईश्वर अग्निरूप में उसके ऊपर उतरा था और इसका धूंआ भट्टी के धूएं के समान ऊँचा चढ़ा और सारा पर्वत वेग से हिलने लगा।

और भी बाइबिल में लिखा है:—

"इसराईल के सन्तान की दृष्टि में पर्वत की चोटी पर ईश्वर के तेज का दृश्य विकराल अग्नि के समान था[3]।" इन वाक्यों को अपनी आँखों के सामने रख कर ऐसा कौन होगा जो बाइबिल के जेहोवा को जरदुश्त के अहुरमज़दा की नकल न कहे।

---

1. Secret Doctrine. vol. 1., p. 121.
2. Dutermin अ. 4/124 'यात्रा की पुस्तक' 19-9-16, 18.
3. यात्रा की पुस्तक 24/17।

७

4. ईश्वर और शैतान—दो शक्तियों का विश्वास

जरदुश्तियों का यह विश्वास, यहूदी, ईसाई और मुसलमानी मतों का आवश्यक सिद्धांत बन गया है। प्रो. डारमेष्टेटर Prof. Darmesteter उसे इस प्रकार संक्षेप से वर्णन करते हैं—"संसार जैसा कि वह अब है, दो प्रकार का है। इसकी रचना का **अहुर मज़दा** शुभकारी और **अंगिरा मन्यू** अशुभकारी इन दो परस्पर विरोधी शक्तियों द्वारा हुई है। संसार का इतिहास इन शक्तियों के विरोध का इतिहास है। अंगरा मन्यू ने अहुर-मज़दा के जगत् पर किस प्रकार आक्रमण किया और उसे बिगाड़ा तथा अन्त में किस प्रकार वह उससे निकाला जायगा।"[1]

यह वही विश्वास है जैसा लोग अपने ईश्वर और शैतान के सम्बन्ध में रखते हैं। इस बात के प्रकट करने की आवश्यकता नहीं कि जिस प्रकार अहुरमज़दा **जेहोवा** का मूलादर्श है ठीक उसी प्रकार अंगरामन्यू बाइबिल के शैतान का है।

दोनों विचार एक ही हैं, इस बात को डाक्टर हॉग साहब ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि "उनके अंगरामन्यू विषयक विचार, साधारण ईसाइयों के शैतान सम्बन्धी विचारों से किसी अंश में भी भेद नहीं रखते प्रतीत होते।"[2] वे आगे कहते हैं कि—"पारसियों के शैतान और नरक-विषयक विचार ईसाई सिद्धान्तों से सर्वांश में समानता रखते हैं। बाइबिल और ज़न्दावस्ता दोनों के मतानुसार शैतान हिंसक और असत्य का पिता है।"[3]

बाइबिल में शैतान सर्प के रूप में प्रकट होता है। ज़िन्दावस्ता में भी, 'अज़िद हक' अर्थात् जलता हुआ सांप, कहा गया है। (फारसी का अज़हदा) इसी शब्द से निकला ज्ञात होता है, जिसका अर्थ विकराल सर्प अथवा पंखयुक्त सर्प है।

अगले अध्याय में हम यह बात सिद्ध करने का यत्न करेंगे कि जन्दा-वस्ता का मत वेदों से निकला है। परन्तु इस स्थल पर हम यह दिखाना चाहते हैं कि संसार में दो प्रतियोगिनी शक्तियों के विचार का पता, चाहे वह प्रकट रूप से ज़रदुश्ती विचार प्रतीत होता हो, वेदों के एक सुन्दर

1. Zendavesta. Part 1st, Introduction P. LVI.
2. Haug's Essays, p. 53.
3. Ibid, p. 309

अलंकार अर्थात् इन्द्र और वृत्रासुर के युद्ध से चलता है। यह अलंकार वैदिकसाहित्य में प्रसिद्ध है, और वेद के अनेक भागों की भांति दो अर्थ रखता है—एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तरिक अथवा जैसा कि यास्कमुनि रचित निरुक्त में समुचित रीति से वर्णन किया गया है। एक 'आधिदैविक' और दूसरा 'आध्यात्मिक'। **आधिदैविक** अर्थ की व्याख्या के अनुसार इन्द्र सूर्य है। वृत्र के अर्थ ढांपने वाले के हैं, (वृ आच्छादने धातु से) और वह बादल का नाम है जो सूर्य को ढक लेता है। सूर्य अपने प्रदीप्त प्रकाश और सुखमयी ऊष्मा को इस पृथ्वी पर फैंकता है तथा समस्त जीवधारी और वनस्पतियों को जीवन देता है। वृत्र सूर्य को छिपाकर उसके प्रकाश और ऊष्मा को हमारे पास तक आने से रोकता है जिससे चाहे थोड़ी देर को ही सही, अंधकार फैल जाता है। इस प्रकार संसार में प्रकाश के मूल इन्द्र और अंधकारकारी वृत्र के मध्य निरन्तर युद्ध होता रहता है। जब वृत्र प्रबल हो जाता है तो सूर्य छिप जाता है और संसार अंधकारमय हो जाता है। परन्तु अन्त में इन्द्र के विजयी होने पर वृत्र का नाश हो जाता है और वह वर्षा के रूप में पृथ्वी पर गिर पड़ता है। इन्द्र फिर अपने प्रकाण्ड प्रताप से प्रकट होता है और अपने पूर्व तेज से चमकने लग जाता है। अपने शत्रु का संहार करके उसकी आभा पहले से भी अधिक बढ़ जाती है। यही प्राकृतिक दृश्य है जो इस अलंकार का बाह्य अथवा **आधिदैविक** व्याख्यान है।

आध्यात्मिक अर्थानुसार इन्द्र ईश्वर है, जो प्रकाश और जीवन का दाता है, समस्त प्रकार के ज्ञान, धर्म, उत्तमता और आनन्दों का मूल है; सारांश यह कि सब भलाई उसी से निकली है अतएव वृत्र उसके प्रतिकूल अर्थात् पाप और अंधकार की शक्ति है। जिस प्रकार भौतिक संसार में प्रकाश और अंधकार के मध्य निरन्तर युद्ध होता रहता है, उसी प्रकार आत्मिक संसार में धर्म और अधर्म के बीच आन्तरिक संग्राम होता रहता है। जिस प्रकार इस संसार को सूर्य प्रकाशित करता है उसी प्रकार वह ईश्वर जो श्रेष्ठ, पवित्र, आत्मिक ज्योति का मूल है, हमारी बुद्धि व अन्तः-करण को प्रकाशित करता तथा हमारे हृदयों में पवित्र भाव उत्पन्न करता है। परन्तु जैसे कभी सूर्य के बादलों से ढक जाने पर पृथ्वी पर अन्धकार छा जाता है उसी प्रकार धर्म के सूर्य को बहुधा पापरूपी बादलों का ग्रहण लग जाता है, जिसके कारण आत्मा में अन्धकार छा जाता है। काम, क्रोध, लोभ, ईर्षा, द्वेष और संसार के असंख्य प्रलोभन वृत्र की सेनारूप हैं जो हमारे आत्मा को घेर कर उसके भीतर विद्यमान ईश्वरीय ज्योति को

नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार इन्द्र और वृत्र के मध्य युद्ध आरम्भ होता है। मनुष्य का आत्मा युद्ध क्षेत्र बनता है जहाँ इन्द्र और वृत्र की सेनाएँ आमने-सामने खड़ी होती हैं। कभी-कभी आत्मा स्वेच्छापूर्वक; धूर्त्त, कपटी, प्रच्छन्नचारी सर्प सदृश वृत्र के अधीन हो जाता है, जिसका परिणाम यह होता है कि उस आत्मा में धर्म का साम्राज्य उठ जाता है और अधर्म शासन करने लग जाता है। इन्द्र की सेना अर्थात् भलाई और धर्म के भाव आत्मा को त्याग जाते हैं क्योंकि उस समय वह उनके लिए उचित निवास-स्थान नहीं रहता। आत्मा पाप की उन सेनाओं का आखेट बन जाता है जिनकी आधीनता उसने शीघ्रतापूर्वक स्वीकार कर ली थी। इन्द्र का प्रकाश उस आत्मा को प्रकाशित नहीं करता। एक प्रकार का आत्मिक अन्धकार उत्पन्न हो जाता है, जिसमें आत्मा को भलाई-बुराई का विवेक नहीं रहता और वह अपने आपको पाप व दुःख के गर्त में गिरा देता है। जब वह अपनी कुवासनाओं के फलों का आस्वादन कर चुकता है तब परमेश्वर की कल्याणकारिणी शक्ति उसका अधर्मावस्था से उद्धार करती है।

धर्म और अधर्म का यही युद्ध है जो संसार में सदैव होता रहता है। यही आत्मिक संग्राम है, जिसे हम अपने जीवन के पल-पल पर अनुभव करते रहते हैं। इसी के कारण संसार में धर्म पर चलना कठिन है। इसी का उपर्युक्त अलंकार में सुन्दरतापूर्वक चित्र खींचा गया है।

वृत्र के अनेक वेदोक्त नामों में से एक नाम "अहि"* है जिसके अर्थ संस्कृत साहित्य में सर्प * के भी हैं। यही नाम ज़न्दावस्ता में 'अज़िह' या 'अज़हिदहक' (संस्कृत—अहिदाहक) के रूप में प्रयुक्त होता है।

प्रोफेसर मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक (Science of Language) में अहि' शब्द और उससे मिलते हुए अन्य आर्य भाषाओं के शब्दों के विषय में इस प्रकार लिखा है :—

"परन्तु संस्कृत में अहि शब्द का अर्थ सांप भी है। ऐसे ही यूनानी भाषा में Fchis और लैटिन भाषा में Anguis इनका धातु संस्कृत में अह या अंह है जिसके अर्थ दबाने या गला घोटने के हैं · लैटिन भाषा में

---

* उदाहरणार्थ देखो ऋग्वेद मं० १ सूत्र ३२ मन्त्र १, २२, ३, ५, निघण्टु १ – १० भी दृष्टव्य है।

** देखो अमरकोश १ । ७ । ६ ।

इस धातु का रूप Ango, Anctum गला घोंटने के अर्थ में है, उससे Anger संज्ञा रूप होता है परन्तु Anger शब्द के अर्थ केवल गला घोटने या गले के रोग के ही नहीं उससे धार्मिक भाव भी हैं, और Anguish, anxiety का अर्थ भी है।''

अहि शब्द के इन दोनों अर्थ का सम्बन्ध दिखलाते हुए प्रो० मैक्समूलर इस प्रकार लिखते हैं :—

''संस्कृत में यह शब्द पाप के अर्थ में आता है जो बहुत युक्त है। पाप मनुष्य के मन के सामने भिन्न-भिन्न रूपों में आता है और उसके अनेक नाम हैं परन्तु ऐसा उपयुक्त कोई और नाम नहीं जैसा अंह धातु से निकले हुए शब्द हैं।

अंह का अर्थ संस्कृत में पाप केवल इसलिए है क्योंकि उसका यौगिक अर्थ गला घोंटना है और पाप का भाव आत्मा के लिए ऐसा ही होता है जैसा कोई घातक किसी का गला घोंटे ... यूनानी भाषा में Agas शब्द जो पाप का वाचक है अंह का ही रूपान्तर है। गौथिक भाषा में उसी धातु से Agis शब्द भय के अर्थ में बनता है और अंग्रेजी के शब्द Awe और Ugly शब्द का Ug भाग भी इसी धातु से निकले हैं और इसी प्रकार अंग्रेज़ी शब्द Anguish, फ्रेंच शब्द Angoisse, इटैलियन Angoscia जो लैटिन शब्द Angustia का अपभ्रंश है।''

वैदिक शब्द 'अहि' के दो अर्थों में परस्पर थोड़ा ही सम्बन्ध था, परन्तु ज़न्दावस्ता में वे सर्वथा मिला दिए गए हैं। अंगरामन्यु अथवा पाप की शक्ति का बहुधा स्थलों पर सर्प के नाम से वर्णन आया है। ज़रदुश्ती मत ने यह सिद्धान्त यहूदियों को दिया जिन्होंने फिर उसे ईसाई और मुसलमानों को दिया, यही कारण है कि तीनों सैमेटिक मत, शैतान का रूप सर्प जैसा वर्णन करते हैं। प्रो० मैक्समूलर इन बातों के इनकार करने में असमर्थ होते हुये भी इस युक्ति के विरुद्ध निम्नलिखित आक्षेप करते हैं :-

''क्योंकि अवस्ता में पाप की शक्ति को सर्प या अजदहा कहा गया है तो क्या उससे यह परिणाम निकालना आवश्यकीय है कि जिस सर्प का उल्लेख 'पैदायश की किताब' के तृतीय अध्याय में किया गया है वह पारसियों से लिया गया? वेद और जन्दावस्ता किसी में भी सर्प ने ऐसा कपटयुक्त और धूर्त्ततापूर्ण स्वरूप धारण नहीं किया जैसा कि 'पैदायश की किताब' में किया है*। यह आक्षेप ऐसा ही है जैसा कि यह कहना कि

पिता और पुत्र बिलकुल एक से ही होने चाहिये अथवा असल और नक़ल में किसी प्रकार का भी भेद न होना चाहिये। परन्तु आगे चलकर विद्वान् प्रोफेसर पूर्वोक्त युक्ति की युक्तता को स्वीकार करते हुये प्रतीत होते हैं। पुराने अहदनामे की पिछली पुस्तकों, जैसे इतिहास की पुस्तक में जहाँ यह वर्णन है कि शैतान ने डैविड को इसराईल की हत्या करने के लिये उत्तेजित किया, (यह वही उत्तेजना है जिसका समुअल के अध्याय २४।२ में ईश्वर के उस क्रोध से सम्बन्ध कहा गया है जो इसराईल और यहूदी को नाश करने के लिए था) और नये अहदनामे के उन समस्त स्थलों में जिनमें पाप की शक्ति को पुरुषवत् वर्णन किया है, हम पारसी विचार पारसी वाक्यों का प्रभाव मान सकते हैं। यद्यपि यहाँ भी सुदृढ़ प्रमाण मिलना किसी प्रकार सहज नहीं है। ... रहा स्वर्ग में सर्प सम्बन्धी विचार, सो यहूदी मत और ब्राह्मण दोनों में उत्पन्न होना सम्भव है।" *

अन्य ईसाई लेखकों ने भी स्वीकार किया है कि इस सिद्धान्त को यहूदियों ने पारसियों से लिया। हम रेवरेन्ड हार्लीवाक Rev. E. T. Harley Walker, M. A. के लेख में से उद्घृत करते हैं जो उन्होंने अप्रैल सन् १९१४ के Interpreter पत्र में "बाइबिल के मत पर पारसियों का प्रभाव" शीर्षक से दिया था—"यहूदी मत के पिछले समय से पारसियों के द्वैत के चिह्न और भी स्पष्ट पाये जाते हैं। ज़रदुश्त के अनुयायियों के मत में संसार का सारा इतिहास एक लगातार युद्ध है जो अहुरमजदा अर्थात् परमेश्वर और ९९९९ रोग और आपत्तियों के कर्त्ता **अगरामैन्यु** के बीच, अथवा सत्य असत्य के बीच, वा प्रकाश और अन्धकार के बीच, चला आता है। यहूदी मत ने उन नामों और कहानियों को दृढ़ नहीं किया जिनमें यह मत प्रकट किया था परन्तु उसके प्रभाव से इसराईल का शत्रु, शैतान बुराई के राज्य का अधिपति हो जाता है।"

हम इस विषय पर जर्मनी के प्रसिद्ध तत्त्वज्ञ शूपनहावर Schoupenhaure का भी प्रमाण देते हैं :—

"इससे यह बात जो दूसरी प्रकार भी सिद्ध है, पुष्ट हो जाती है जहोवा अहुरमजदा का रूपान्तर है और शैतान अंगरामैन्यु का, जो उसके साथ-साथ रहता है। अहुरमजदा इन्द्र का रूपान्तर है।**

* Religion and other Essays, p. 111. ** Chips, vol. I. p. 155.

तो क्या वैदिकधर्म में भी कुरान, बाइबिल और जन्दावस्ता के समान दो शक्तियों का सिद्धान्त है? नहीं, इसी कारण वैदिक ईश्वर-वाद इन तीनों मतों से बढ़-चढ़कर है।

यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि वैदिक वृत्र अथवा अहि कोई वास्तविक अथवा पृथक् व्यक्ति नहीं है, जो ईश्वर के समान अलग अस्तित्व रखता हो। वह केवल निषेध परक और कल्पनात्मक विचार है, अर्थात् धर्म अथवा ईश्वरीयता के अभाव का नाम है। आत्मिक संग्राम के अलंकार-युक्त वर्णन के लिये आवश्यकता थी कि जिस प्रकार धर्म का मूल एक शक्तिवान् (ईश्वर) है, उसी प्रकार अधर्म की शक्ति का भी पुरुषवत् वर्णन किया जावे। परन्तु जन्दावस्ता में 'अज्ही' ने कुछ कुछ व्यक्तित्व धारण कर लिया और बाइबिल और कुरान में तो शैतान को प्रायः ईश्वर के सदृश ही व्यक्तित्व देकर उसे उससे सर्वथा पृथक् मान लिया है।

ईश्वर और शैतान के द्वैतवाद की जड़ में निम्नलिखित तर्क प्रतीत होता है—"इस संसार में हम भलाई-बुराई दोनों पाते हैं। जिस प्रकार की भलाई की उत्पत्ति ईश्वर से है उसी प्रकार बुराई पैदा करने वाला कोई दूसरा व्यक्ति होना चाहिये। यह दूसरा व्यक्ति शैतान है। परन्तु यह तर्क सर्वथा अयुक्त है। इसी प्रकार कोई पुरुष यह तर्क उठा सकता है कि प्रकाश और अंधकार दो विरोधी पदार्थ हैं। सूर्य प्रकाश का मूल है अतएव अन्धकार को पैदा करने वाला भी कोई गोला आकाश में अवश्य होगा। इस तर्कभास में दोष यह है कि प्रकाश और अंधकार को दो प्रथक् वस्तु मान लिया है। वस्तुतः प्रकाश एक ही वस्तु है और अंधकार उसके अभाव का नाम है। इसी प्रकार भलाई एक वास्तविक पदार्थ है और बुराई उसका अभाव मात्र है। जहाँ सूर्य चमकता है वहीं प्रकाश होता है, जहाँ सूर्य की रश्मियाँ नहीं पहुंचती, वहाँ अन्धकार रहता है। इसी प्रकार जिस आत्मा में ईश्वरीय प्रकाश है वहाँ धर्म वा पुण्य है और जिस आत्मा में ईश्वरीय ज्योति प्राप्त या ग्रहण करने की शक्ति नहीं वहाँ अधर्म व पाप है अथवा यों कहिये कि वहाँ आत्मिक अंधकार है।

जन्दावस्ता में भी शैतान का व्यक्तित्व सन्देहयुक्त है। प्रो० डरामे-स्टेटर, एल० एच० मिल्स तथा अन्य अनेक विद्वान् इस बात की पुष्टि करते हैं। परन्तु डाक्टर हॉग उसे इन स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार करते हैं: "एक ऐसी प्रथक् पापात्मा जो अहुरमज़दा के समान शक्तिमान हो तथा सदैव उससे विरोध रखती हो, ज़रदुश्ती धर्म के प्रतिकूल है, यद्यपि प्राचीन

जरदुश्तियों में इस प्रकार के विचार का होना वेन्दोदाद जैसे पिछले ग्रन्थों से अनुमान किया जा सकता है"[1]

इस प्रकार डाक्टर हॉग के अनुसार अगरामन्यु कोई पृथक् व्यक्ति नहीं है। परन्तु कुरान और इंजील के शैतान के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि वेदों के सत्य अलँकार को समझने में प्रथम कुछ भ्रम होकर उसका कुछ रूपान्तर हो गया, और अन्त में उसे इस प्रकार बिगाड़ा गया जिससे वह केवल हास्य-जनक वार्त्ता और अयुक्त गाथा के रूप में अवनत हो गया। इससे यह भी प्रकट होता है कि संसार के अन्य धर्मों के सिद्धान्त जो उन्हें अपने निज़ के जान पड़ते हैं वास्तव में वेदोक्त सत्य मत के बिगड़े हुए रूपान्तर मात्र हैं।

५–फ़रिश्ते

यह बातें हम द्वितीय अध्याय में बता चुके हैं कि फ़रिश्तों का विश्वास जो यहूदियों ने मुसलमानों को दिया है वह ज़रदुश्त के 'यज़त' सम्बन्धी विचार से समानता रखता है।

डाक्टर सेल लिखते हैं कि फरिश्तों के नाम तथा काम की शिक्षा पारसियों से ग्रहण की, जैसा कि वे स्वयं स्वीकार करते हैं (देखो Talmud Hieros in Rosthashan) प्राचीन समय के फ़रिश्तों के धर्म सम्बन्धी कार्य और उनके सांसारिक कार्यों के संरक्षक पर पूरा विश्वास रखते थे (जैसा कि उस धर्म वाले अब तक करते हैं) और इसीलिये उन्होंने फ़रिश्तों के कार्य और अधिकारों को अलग-अलग नियत किया था और अपने महीनों के दिवसों के नाम उनके नाम पर रक्खे थे। जबराईल को वे सरूश और रवाँबख्श अथवा आत्मदाता कहते थे। उसके विरुद्ध कार्य वाले अर्थात् मौत के फ़रिश्ते को वे अन्य नामों के अतिरिक्त मरदाद अथवा 'मारक' के नाम से पुकारते थे। मैकाईल को वेश्टर कहते थे जो उनकी सम्पति में मानव-जाति के लिये अन्न प्रदान करता है। यहूदियों की शिक्षा है कि फ़रिश्ते अग्नि से उत्पन्न हुए। उनके अनेक प्रकार के कार्य हैं और वे मनुष्यों की सिफ़ारिश करते तथा उनके साथ रहते हैं। मौत के फ़रिश्ते को वे 'दूमा' के नाम से पुकारते हैं और कहते हैं कि वह मरते हुए मनुष्यों को उनके अन्त समय पर नाम ले ले कर पुकारता है।[2]

1. Haug's Essay' p. 303
2. सेल साहब का कुरान, भूमिका पृ. 56।

पारसी लोग भी सात बड़े फ़रिश्तों पर विश्वास रखते हैं (अर्थात् बहुमनु, अशावहिश्त, क्षत्रवैर्य्य, स्पन्ताअर्मैति, हौर्वतद, आमर्तादि और उनका अधिदेव अहुरमज़दा) जिनको* अमेशस्पंत कहते हैं। पादरी एल. एच. मिल्स कहते हैं कि अमेशस्पतों को आत्मा की पदवी देने का विचार (बाईबिल के**) सात आत्माओं का मूल कारण हो सकता है जो ईश्वर के सिंहासन के सम्मुख रहते हैं।***

सृष्टि-उत्पत्ति

ज़न्दावस्ता के अनुसार संसार छः कालों में बना है जिस क्रम से सृष्टि के विविध भाग रचे गये वह वही क्रम है जो बाईबिल में वर्णित है। उन दोनों का वर्णन हम नीचे बराबर-बराबर लिखते हैं जिससे पाठकों को एतद्विषयक सादृश्य समझने में अधिक सुगमता हो।

ज़रदुश्तियों का वर्णन

पहले समय में आसमान पैदा किया गया; दूसरे में पानी; तीसरे में पृथ्वी; चौथे में वृक्ष; पांचवें में पशु और छठे में मनुष्य उत्पन्न हुए।

---

* डॉ. हॉग के अनुसार यदि अमेशस्पन्त को यथार्थ रूप में समझा जाय तो वह कोई भिन्न व्यक्तियाँ नहीं हैं किन्तु वे अहुरमज़दा की उन विभूतियों के नाम हैं जिन्हें वह अपने सच्चे उपासकों को प्रदान करता है। वे लिखते हैं :—

वे नाम कि जिनसे अमेशस्पन्त पुकारे जाते हैं अर्थात्—बहुमनु, अशाबहिश्त क्षत्रवैर्य्य स्पन्ताअर्मैंति हौवन्ताद, अमर्तादि गाथाओं में बहुधा गाते हैं। परन्तु जैसा कि पाठकों को उन स्थलों से (देखो यास ४७) और उनके पूर्वापर प्रसंग से ज्ञात होगा. वे केवल उन गुण वा विभूतियों के नाम हैं जिन्हें ईश्वर उन लोगों को प्रदान करता है, जो सत्य भाषण और शुभकर्म द्वारा उसको सद्हृदय से पूजा करते हैं। ज़रदुश्त की दृष्टि में वे कोई व्यक्ति न थे, किन्तु यह विचार उस महात्मा के कथन में उसके कतिपय उत्तराधिकारियों ने मिला दिया। (Haug's Essays, p. p., 305-306)

उपर्युक्त छः नामों के अर्थ इस प्रकार हैं :—बहुमनु पवित्र मन। अशावहिश्त = सर्वोच्च धर्म। क्षत्रवैर्य्य = सांसारिक सम्पत्ति की प्रचुरता। स्पन्ताअर्मैति = भक्ति और पवित्रता। होर्वताद = स्वास्थ्य। अमर्तादि = अमरत्व।

** देखो ईश्वरीय ज्ञान ८। २।

*** ज़न्दावस्ता भाग ३, पृ. १४५।

यहूदियों का वर्णन

पहले दिन आसमान, पृथ्वी पैदा किये गये; दूसरे दिन आकाश और पानी; तीसरे दिन सूखी भूमि, घास, पक्षी और फल; चौथे दिन प्रकाश, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र; पांचवें दिन चलने वाले जीव, पंखयुक्त पखेरु, विशाल-काय ह्वेल; छठे दिन जीवितप्राणी, पशु, लताएँ, चौपाये और मनुष्य।

प्रो० मैक्समूलर डॉ० स्पीगल रचित पुस्तक की आलोचना करते हुए समानता के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखते हैं :—"हम दूसरे विषय अर्थात् 'पैदायश की किताब' और 'ज़न्दावस्ता' में वर्णित सृष्टयुत्पत्ति की ओर आते हैं तो हमें यहाँ अवश्य ही कुछ अद्भुत समानताएँ जान पड़ती हैं। पैदायश की किताब में सृष्टि छः दिनों में और 'अवस्ता' में वह छः कालों में उत्पन्न की गई। ये छः काल मिल कर एक वर्ष के बराबर होते हैं। पैदायश की किताब और अवस्ता दोनों में ही सृष्टि-रचनाकार्य, मनुष्य की उत्पत्ति होने पर समाप्त हो जाता है। डॉ० स्पीगल दोनों वर्णनों की अन्य बातों में भेद स्वीकार करते हैं परन्तु कहते हैं कि मनुष्य के प्रलोभन और पतन में फिर एकता है। डॉ० स्पीगल ने अवस्ता से प्रलोभन और पतन का सविस्तार वर्णन नहीं किया अतएव हम इस बात का निर्णय नहीं कर सकते कि उनकी सम्पत्ति में कौनसी बातें यहूदियों ने पारसियों से ग्रहण की ?"*

यदि हम प्रलोभन और पतन की विवादास्पद बात को जाने भी दें तब भी हमारे विचार में उपर्युक्त सृष्टि-उत्पत्ति सम्बन्धी दोनों वर्णनों में इतना घनिष्ट का सादृश्य है जिसे आकस्मिक नहीं कह सकते।

यह प्रकट होगा कि ज़रदुश्तियों का सृष्ट्युत्पत्ति सम्बन्धी वर्णन वस्तुतः भौतिक विज्ञान की अन्वेषणा के अनुकूल है, जिसने यह सिद्ध कर दिया है कि सृष्टि-उत्पत्ति अथवा यों कहिये कि विश्व-विकास का प्रथम रूप एक प्रदीप्त पिंड (Nebulous Mass) का प्रकट होना था। उसका दूसरा रूप हमारे भूमण्डल को समस्त पिंड से वियुक्त होकर अलग पृथ्वी के रूप में आना था। इसके पश्चात् फिर क्रमशः वनस्पति, पशु और मनुष्य एक दूसरे के बाद प्रकट हुये।

यजुर्वेद, सृष्टि-उत्पत्ति का इसी क्रम से वर्णन करता है :—

---

* देखो Chips, vol. 1, page 154

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद भूमिमथो पुरः ।।
तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् ।
पशूस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ।।
तं यज्ञं बर्हिषि प्रोक्षन् पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ।।
यजु० अ० ११ मं० ५, ६, ९ ।

अर्थ तब एक प्रदीप्त[1] पिंड उत्पन्न हुआ, उसका अधिपति वा सर्व-व्यापक परमात्मा था । तत्पश्चात् इस प्रदीप्त पिंड से पृथ्वी तथा अन्य शरीर पृथक हुये । इस सर्व-पूज्य परमेश्वर ने वनस्पति पैदा की जो भोजनादि के काम आती है । उसने पशु बनाये जो हवा, जंगल और बस्ती में रहते हैं । उसने मनुष्यों को उत्पन्न किया जिसमें विद्वान् और ऋषि लोग भी हुए और जिन्होंने उस अनादि और उपास्य परमात्मा की पूजा की ।

यह ध्यान करने की बात है कि ज़रदुश्तियों का वर्णन वैदिक वर्णन से अधिक मिलता है । यथार्थ बात यह है कि ज़रदुश्तियों का वर्णन जिसका यहूदी वर्णन एक प्रकार की नकल है वैदिक-सृष्टि-उत्पत्तिवाद पर अव-लम्बित है ।[2]

७—मृतोत्थान

डाक्दर हॉग कहते हैं कि "मुर्दों का पुनः जीवित होना वास्तव में ज़रदुश्तियों का विचार है"[3] वे फिर लिखते हैं "अन्तिम न्याय व्यवस्था के दिन मृतकों का जी उठना भी ज़रदुश्तियों का एक सिद्धांत है ।"[4]

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि यहूदियों ने इस सिद्धांत को पार-सियों से ग्रहण करके ईसाई और मुसलमानों को उसकी शिक्षा दी । हम

1. विराट्-वि उपसर्ग और राज धातु से (जिसका अर्थ चमकना है) बना है अतएव उसका अर्थ प्रदीप्त पिंड किया गया ।

2. वैदिक सृष्टि उत्पत्ति का जरदुश्ती सृष्टि उत्पत्ति से सम्बन्ध देखने के लिये पाठकों को पंचम अध्याय का सातवां अंग अवलोकन करना चाहिए ।

3. Haug's Essays, p. 216.

4. Ibid, p. 311.

ज़न्दावस्ता से प्रमाण देते हैं :—'यह तेज उस वीर का है जो सम्रोश्यन्तों में से उठेगा जिससे उस समय जब कि मृतक दुबारा उठेंगे और अविनाशी जीवन का आरम्भ होगा, जीवन स्थायी, अक्षय, अमर, निर्दोष, बलिष्ठ और शक्ति सम्पन्न बन जावे और सदैव अपने आप ही (बिना किसी सहायता के) स्थिर रह सके। समस्त संसार अनन्त काल पर्यन्त भलाई की दशा में रहेगा। शैतान उन स्थानों से भाग जावेगा जहाँ से वह धर्मात्मा पुरुष पर उसे हनन करने की इच्छा से आक्रमण किया करता था और प्रजा नाश हो जावेंगे।''[1]

यहां हम मसीह (जिसे पारसी धर्म ग्रन्थों में सम्रोश्यन्त कहा गया है) के पुनरागमन, स्वर्गीय जीवन और मृतोत्थान की शिक्षा को ठीक वैसा ही पाते हैं जैसा कि उसका वर्णन बाइबिल में किया है।

इस सिद्धांत सम्बन्धी बहुत-सी बातों के लिये यहूदी लोग पारसियों के ऋणी हैं। उदाहरणार्थ उनका तराजू वाला विचार जिसमें न्याय-व्यवस्था के दिन प्रत्येक मनुष्य के कार्यों की तुलना की जायगी वास्तव में ज़रदुश्तियों का विचार है। प्रो० डारमेस्टेटर अपनी टिप्पणी में जो पृष्ठ १२ पर की है लिखते हैं :—

रशमी रज़िस्ता सच्चों का सच्चा, सत्य का फ़रिश्ता है। वह मिथ्र और सिरोश के अतिरिक्त मृतकों के तीन न्यायाधीशों में से एक है। वह उस तुला को पकड़ता है जिसमें मृत्यु के उपरान्त मनुष्य के कर्मों की तुलना की जाती है वह अन्यायपूर्वक नहीं तोलता... धर्मात्मा और शासकों के लिये भी नहीं। वह तराजू में बाल भर अन्तर नहीं पड़ने देता, और न किसी का पक्ष करता है।'' (मीनोखिरद २, १२०-१२१)[2] जैसा कि अध्याय २ अंश २ [३] में पहले ही कहा गया है नरक के पुल का विचार जिस पर कि मृतोत्थान के पश्चात् मनुष्यों को पार उतारना होगा वह भी ज़रदुश्तियों से लिया गया है।

बेलग्रेड के मुख्य रब्बी डाक्टर ए. कोहट (A Kohut) ने Zeit schrift Der Deutschen Morgenlandischen Gesellschast[3]

1. जमयाद, पृष्ठ १९, ८९-९०.

2. जन्दावस्ता, भाग २, रोश यशत, पृ. १६८.

3. The part taken by the Parsi Religion in the formation of Christianity and Judaism बैलग्रेड के प्रधान रब्बी स्व. कोहट के जर्मन पुस्तक से अंग्रेजी अनुवाद होकर फोर्ट प्रिंटिंग प्रेस, पारसी बाजार स्ट्रीट, बम्बई में १८९९ में छपा।

में प्रकाशित अपने निबन्ध में यह स्वीकार किया है कि इस विषय की कई और छोटी-छोटी बातों के लिये भी यहूदी लोग पारसियों के ऋणी हैं। उनमें से हम कई बातों का यहाँ उल्लेख करते हैं।

इस बात को दोनों मत मानते हैं कि मृत्यु के पश्चात् ३ दिवस तक आत्मा शरीर के चारों ओर घूमता रहता है। विद्वान् रब्बी सदर बन्देश नामक एक पारसी पुस्तक का प्रमाण देते हैं "आत्मा ३ दिवस तक उसी स्थान पर रहता है जहाँ कि उसने शरीर का त्याग किया था। वह शरीर को खोजता रहता है तथा फिर शरीर-धारण की आशा करता है।" [1] (देखो वेन्दीवाद २१, ६१-६६ जहाँ पर भी यही शिक्षा दी गई है)। डाक्टर कोहट समानता दिखलाने को निम्नलिखित प्रमाण Jerus Berach से देते हैं—"आत्मा ३ दिवस तक शरीर के चारों ओर घूमता रहता है क्योंकि वह उससे पृथक् होना नहीं चाहता।" [2]

२—जामास्पनामा नामक एक पारसी धर्म-पुस्तक के अनुसार—"सृष्टि के अन्तिम दिनों में मनुष्य के ऊपर बड़ी आपत्तियाँ आवेंगी। महामारी और रोग फैलेंगे। यूनान, अरब और रोम की सेनाओं के मध्य फरात नदी के तट पर महायुद्ध होगा" [3] डाक्टर कोहट ऐसे ही संग्रामों को यहूदी पुस्तकों में भविष्यत्वाणी होना बताते हुए लिखते हैं—"ये लड़ाइयाँ मसीह के आगमन समय की घोषणा करेंगी। और यह कहावत हो जायगी कि जब राज्यों में परस्पर युद्ध होने लगे तो मसीद के प्रादुर्भाव की आशा करनी चाहिए।" (देखो Genes Rabba, ch. 42) (मिदराश Jalkut, 359) भी फ़ारसी, अरब और रोमन लोगों की लड़ाइयाँ जामास्पतामें के अनुसार बतलाता है। [4]

३—डॉ. कोहट आगे चलकर कहते हैं—जैसी कि पारसियों की परम्परागत कथा है कि 'सोश्यन्त' से पूर्व दो नबी आकर मसीह के आगमन समय की घोषणा देते हुए उसके लिए मार्ग ठीक करेंगे, उसी प्रकार मिराश Jalk Jesaj (305, 318) में वर्णन है—कि "इसलिये वास्तविक मुक्ति-

1 देखो पृ. ७

2 देखो पृ. १३।

3 डा. कोहट की पुस्तक, पृ. २२।

4 डा. कोहट की पुस्तक, पृ. २४।

दाता से पूर्व यूसफ़ मसीह और मसीह एफ़रेम के पुत्र, ये दो अग्रगामी बन कर आवेंगे''।[1]

४—अनेक बार वर्णन आया है (Midrasch Gen. R. C. 98 Midr. Jalk ps. 682 Midr. Ps. C. 21) कि मसीह ३ आदेश लावेंगे। पारसियों के उसी प्रकार के विश्वास का स्मरण दिलाता है कि प्रत्येक मुक्तिदाता एक आदेश लावेगा जो अभी तक प्रकट नहीं हुआ है।''[1]

५—बन्देहेश के ३१ वें अध्याय में यह प्रश्न उठाया गया है कि ''जो शरीर हवा में मिट्टी होकर उड़ गया वा जल-तरंगों में डूब गया वह फिर कैसे उत्पन्न होगा? मृतक शरीर फिर किस प्रकार जी उठेंगे? इसका उत्तर ओरमज्द ने इस प्रकार दिया है कि ''जिस प्रकार मेरे द्वारा पृथ्वी में डाला हुआ अन्न उगकर फिर एक बार जीवन ग्रहण करता है जिस, प्रकार मैंने वृक्षों में उनके भेद के अनुसार नस-नाड़ी दी हैं, जिस प्रकार मैंने बालक को माता के गर्भ में रक्खा है, जिस प्रकार मैंने पानी को पैर दिये हैं जिनके द्वारा वह दौड़ता है, जिस प्रकार मैंने बादलों को उत्पन्न किया जो पृथ्वी से पानी को ले जाते हैं और जहाँ मैं चाहता हूँ वहाँ मेघ के रूप में उसे बरसाते हैं, जिस प्रकार मैंने इन समस्त वस्तुओं को उत्पन्न किया है उस प्रकार मृतकों को पुनः जीवित कर देना मेरे लिये कौनसी कठिन बात होगी। स्मरण रक्खो ये सब एक बार हो चुका है, मैंने उन्हें उत्पन्न किया तो क्या मैं उसका जो पूर्व था पुनः उत्पन्न नहीं कर सकता?''

डाक्टर कोहट कहते हैं कि ये सब बातें यहूदियों के पुस्तक Talmud और Midrasch में आती हैं।

मृतोत्थान की सिद्धि में बहुधा अनाज के उस दाने का दृष्टान्त दिया जाता है जो प्रथम पृथ्वी माता की गोद में रक्खा जाता है और पीछे अगणित पत्तियों के रूप में फूट निकलता है (Cf. Synh 90 p., Ketub 11 lp : Pirke D. R. Fbzia C. 33) ''पृथ्वी में बोया हुआ नग्न बीज पत्तियों के अनेक पत्तों के साथ उग आता है तो फिर धर्मात्मा पुरुष जो अपने कपड़ों सहित भूमि में दफ़न किये जाते हैं क्यों न उठेंगे।'' जिस प्रकार बन्देश मृतोत्थान के चमत्कार की जन्म और वर्षा के चमत्कार से समानता करते हैं, ठीक उसी प्रकार यहूदियों के पुस्तक Talmud Taanith 2a. :

1 डा. कोहट की पुस्तक पृ. २४।

2 डा. कोहट की पुस्तक पृ. २३।

Synh 1 13a: कहते हैं। तीन कुञ्जियाँ केवल ईश्वर के हाथ में हैं और किसी प्रतिनिधि को नहीं सौंपी जातीं। वे यह हैं १—वर्षा की कुञ्जी, २—जन्म की कुञ्जी, ३—मृत्तोत्थान की कुञ्जी।" यही बात Midarsch Deuter और Genes Rabbi G. 1 में वर्णित है जिसमें मृतोत्थान के चमत्कारों के साथ ठीक वैसा ही समझौता किया गया है, जैसा कि बन्देहेश में, और उसका पूर्ण होना उन दोनों की अपेक्षा कम कठिन कार्य्य बतलाया गया है।"[1]

८—भविष्य जीवन, स्वर्ग और नरक

भविष्य जीवन और, स्वर्ग और नरक के सम्बन्ध में यहूदियों का जो विश्वास है वह समस्त विवरण सहित जन्दावस्ता के बयान से मिलता है और अवश्य उसी से लिया गया है। डा. हॉग लिखते हैं—

भविष्य जीवन और आत्मा के अमरत्व का विचार पूर्व ही गाथाओं में स्पष्ट रूप से वर्णित किया है, तथा अवस्ता के पिछले साहित्य में भी फैला हुआ है। भविष्य जीवन का विश्वास जन्दावस्ता के मुख्य सिद्धांतों में से है। डाक्टर साहब फिर कहते हैं—"इसी विचार से बहुत कुछ मिलता जुलता स्वर्ग और नरक का विश्वास है जिसका स्वयं स्पितामा जरदुश्त ने अपनी गाथा में स्पष्टतया वर्णन किया है। स्वर्ग का नाम गरोदिमान (फ़ारसी में गरातमन) अर्थात् भजनों का घर है क्योंकि ऐसा विश्वास है कि फ़रिश्ते वहाँ स्तुतिगान किया करते हैं। यह वर्णन ईसाईयों के उस विचार से सर्वथा समता रखता है जो (बाइबिल) में इसाया ६, और योहन्ना की पुस्तक में आया है।[2]

यहूदी और पारसी पुस्तकों में वर्णित स्वर्ग के आनन्दों में जो समानता है उस पर पूर्व ही अध्याय २ अंश २ (४) में लिखा जा चुका है। डाक्टर कोहट ने एक दूसरे सादृश्य का वर्णन किया है उसको भी हम लिखते हैं। वे कहते हैं:—"मुझे दृढ़ विश्वास है कि अदन के रत्नजटित स्वर्ग का विचार पारसियों से लिया गया है। इसी का बन्देहेश के ३२ वें अध्याय के प्रारम्भ में उल्लेख है जहाँ कहा गया है कि जब मेरे द्वारा स्वर्ग आध्यात्मिक स्थिति में बिना स्तूपों के स्थित है और रत्नों सहित जगमगाते हैं।"

1. डाक्टर कोहट का पुस्तक, पृ. २७-२८।
2. Haug's Essays, p. 321.
3. Haug's Essays, p. 31.

मनोखिरद १३६ वें पृष्ठ के अनुसार स्वर्ग एक इस्पात लोहे की धातु के, जिसे हीरा भी कहते हैं, बने हुए हैं। (Spiegel's Commentor, Uberdas Avesta, p. 449) स्वर्ग के सुन्दर पत्थरों से बने होने का विचार इतना अधिक प्रचलित था कि ज़न्द भाषा में स्वर्ग और पाषाण के लिये एक ही शब्द 'आसमान' आता है।[1]

स्वर्ग के ७ विभागों के सम्बन्ध में डाक्टर कोहट कहते हैं—जैसे पिछली पारसी पुस्तकों में वैसे ही यहूदियों की पुस्तक Talmud (अध्याय १२p) में हमें ७ स्वर्गों के नाम मिलते हैं, जिनमें से ६ नाम बाइबिल में वर्णित नामों के समान हैं।[2]

नरक और उसके ७ विभागों के सम्बन्ध में पारसी और यहूदी विचारों की समानता हम इस पुस्तक के द्वितीय अध्याय में दिखला चुके हैं।

अनन्त समय तक स्वर्ग व नरक में उपहार वा दण्ड की शिक्षा भी कदाचित् जन्दावस्ता से ग्रहण की गई है। उदाहरणार्थ 'उशतवेती गाथा' में लिखा है कि 'धर्मात्माओं के आत्मा अमरत्व को प्राप्त होते हैं और पापियों के आत्मा अनंत काल तक दण्ड भोगते रहते हैं। अहुरमजदा जिसके सब जीव हैं, उसका ऐसा ही नियम है।[3]

विश्वास लाने पर मुक्ति होने का ईसाई विचार जन्दवस्ता में भी पाया जाता है—"विश्वासपात्र लाने वाले लोग आनन्द और अमरत्व का उपभोग भी करगे।"[4]

९–बलिदान

बलिदान की प्रथा जो यहूदियों में सामान्यतः प्रचलित है, जरदुश्ती प्रथा का अनुकरण है, जो वैदिक यज्ञ अथवा अग्निहोत्र का रूपान्तर मात्र है। वैदिक कर्मकण्ड में अग्निहोत्र का स्थान बहुत ऊंचा है, उसके साहित्य के बड़े भाग में इसका विशेष रूप से वर्णन है। यह आर्यों के पंच महायज्ञों में से एक है। वैदिक काल के आर्य लोग प्रतिदिन प्रातःकाल और सन्ध्या समय ईश्वर-प्रार्थना किया करते थे, और जलवायु की शुद्धि के लिए घृत व

1. डाक्टर कोहट की पुस्तक, पृ. ३६
2. वही कोहट की पुस्तक, पृ. १६
3. गाथा उशतदेवी यस्य ४४-७।
4. जन्दावस्ता, भाग ३, पृ. २१, यस्म ३१।

अन्य सुगन्धित द्रव्यों की आहुतियाँ अग्नि में डाला करते थे जिससे समस्त प्राणियों का उपकार होता था। इस दैनिक अग्निहोत्र के अतिरिक्त विशेष अवसरों और त्यौहारों पर विशेष यज्ञ हुआ करते थे जैसे चातुर्मास्योष्टि-यज्ञ वर्षा ऋतु में किया जाता था।

जिस प्रकार पारसियों ने अपने मत के अन्य कृत्य और सिद्धांत वैदिक आर्यों से सीखे थे उसी भाँति इस कृत्य की भी शिक्षा ग्रहण की थी और वे उसे उतना ही आवश्यकीय समझते थे कि जितना कि यहाँ के आर्य लोग समझते थे। इस कृत्य का उन्होंने ठीक-ठीक अर्थ समझा हो इसमें कुछ सन्देह है और इस क्रिया का पारसियों में उसी प्रकार रूप बिगड़ गया जिस प्रकार कि हमारे देश में महात्मा बुद्ध के समय में उसका निरर्थक रूप हो गया था परन्तु तो भी वे लोग दृढ़ता से उसमें रहे और नियमानुकूल उसका अनुष्ठान करते हैं। कदाचित् यही मुख्य कारण है कि वे 'अग्निपूजक' कहे जाने लगे। पारसियों ने यह यज्ञ क्रिया यहूदियों को सिखाई जिनके हाथों में उसका रूप और भी अधिक दूषित हो गया। माँसभोजी होने के कारण यहूदियों ने माँस की आहुतियाँ दीं परन्तु बलिदान अग्नि में होता था। यह इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि इस यज्ञ-क्रिया को उन्होंने ज़र-दुस्तियों से ग्रहण किया था। इस विषय पर बाइबिल में स्पष्ट प्रमाण हैं, जिनमें से उदाहरणार्थ दो-एक दिये जाते हैं, ईश्वर मूसा से कहता है:—"मेरे लिए तू मृत्तिका की एक वेदी बनावेगा, और उस पर जलती हुई शान्ति की आहुतियाँ देगा। अपनी भेड़ों और बैलों को चढ़ावेगा। सब स्थलों पर मैं अपना नाम लिखूँ तेरे पास आऊँगा और तुझे आशीर्वाद दूँगा।"[1]

फिर "पैदायश की किताब" में लिखा है—"और नूह ने ईश्वर के लिये एक बेदी बनाई और उसने प्रत्येक पवित्र पशु-पक्षी को लेकर प्रज्वलित अग्नि में वेदी पर आहूतियाँ दीं।"[2]

मुसलमान लोग, जिन्होंने यह कृत्य सीधा ज़रदुश्तियों से न लेकर यहूदियों से ग्रहण किया, उसमें अग्नि का उपयोग न समझ सके। इसी कारण उन्होंने अपने बलिदानों से अग्नि को दूर कर दिया। केवल पशुओं का वध रह गया। कैसा शोकजनक परिवर्तन है कि पवित्र और लाभदायक यज्ञ-क्रिया के स्थान में केवल निर्दोष पशुओं का वध होने लगा।

1. यात्रा की पुस्तक, १५-२२।

2. उत्पत्ति की पुस्तक, ८२।

१०—कुछ साधारण समानताएं

धार्मिक कृत्य और मन्तव्यों की उपर्युक्त समानताओं के अतिरिक्त कुछ अन्य छोटी-छोटी बातों में भी सादृश्य है, उनका भी हम अब वर्णन करते हैं :-

१—बाइबिल में हमें बतलाया गया है कि ईश्वर ने सिनाई पर्वत पर हज़रत मूसा को १० आदेश दिये। बाइबिल में लिखा है—'और मूसा खुदा के पास गया, खुदा ने मूसा को पहाड़ पर बुलाया और कहा कि तू याकूब के घराने से इस प्रकार कहेगा और इसराईल के बालकों को बतावेगा।"[1]

"मूसा पहाड़ पर गया और बादल ने पहाड़ को ढ़क लिया।"[3]

इसी प्रकार हम ज़दावस्ता में देखते हैं कि अहुरमज़दा 'पवित्र प्रश्नों के पर्वत' पर ज़रदुश्त से वार्तालाप करता है। अब वह पवित्र प्रश्नों के पर्वत' पर अहुर से बातचीत करता है।"[3]

२—हज़रत नूह की नौका सम्बन्धी कथा ज़न्दावस्ता के यिम के वर की कथा से बहुत सदृशता रखती है। बाइबिल में लिखा है—"ईश्वर ने देखा कि पृथ्वी पर मनुष्य की अशिष्टता बहुत कुछ बढ़ गई....और इसके कारण उसे पश्चात्ताप हुआ कि उसने मनुष्य को पृथ्वी पर वृथा पैदा किया। इस बात ने उसके हृदय को बहुत दुःखित किया और ईश्वर ने कहा कि मैं मनुष्य का जिसको मैंने पैदा किया है भूतल से संहार करूंगा। मनुष्य और पशु, रेंगने वाले ज़ीव और वायु में उड़ने वाले सब पक्षियों को मिटा दूंगा, क्योंकि मुझे पश्चात्ताप होता है कि मैंने उन्हें बनाया। परन्तु नूह ने ईश्वर की दृष्टि में दया का स्थान प्राप्त किया। ईश्वर ने नूह से कहा कि समस्त जीवधारियों का अन्त मेरे सामने आ गया है। तू एक सनोवर की लकड़ी की एक नाव बना, तू इस नाव में कोठरियाँ बना और देख! मैं स्वयं इन सब जीवधारियों का जितने में जीवन का श्वास है आसमान के नीचे से नाश करने के लिए जल-प्रलय करूँगा। इससे पृथ्वी की समस्त वस्तुएँ नष्ट हो जावेंगी। परन्तु तुझ से प्रतिज्ञा करता हूँ कि तू नाव में आवेगा और अपने बेटे, स्त्री और पुत्र-वधू को साथ लावेगा। सब प्रकार के प्राणियों में से दो-दो अपने साथ जीवित रखने के लिए लावेगा। उनमें

1. यात्रा की पुस्तक, अ० १९-३।
2. यही पुस्तक, १२-१५।
3. फरगठ १२-१९।

एक नर और दूसरी मादा होगी। प्रत्येक प्रकार के पक्षियों, पशुओं और पृथ्वी पर रेंगने वाले जीवों में से दो-दो को जीवित रखने के लिए तू अपने साथ लावेगा।[1]

इसी प्रकार जन्दावस्ता में अहुरमज़दा उस यिम को सूचित करता है जो आदि पुरुष, आदि राजा और सभ्यता का संस्थापक है[2] कि "भयानक शीत[2] द्वारा संसार नष्ट होने वाला है।" "और अहुरमजदा ने यिम से कहा हे विवंधत के पुत्र सुन्दर यिम, प्राकृतिक संहारकारी शीत पतन होने वाला है जो भयङ्कर और बुरे पाले को अपने साथ लावेगा। भौतिक संसार पर विनाशक शीत का पतन होने वाला है, जिससे उच्चतम पर्वतों तक पर घुटनों के बराबर गहरे हिम के पर्त गिरेंगे। × × × × × और तीनों प्रकार के पशुओं का नाश हो जायगा।"

तब अहुरमजदा यिम को परामर्श देता है कि ऐसा वर बनाया जावे जिसमें वह अन्य जीवित प्राणियों के जोड़े के साथ शरण पा सके—

"२५—इसलिये एक लम्बा वर बना जैसा कि घोड़ा दौड़ने का मैदान चारों ओर होता है। इसमें भेड़, बैल, मनुष्य, श्वान, पक्षी और लाल प्रज्वलित अग्नि का बीज रख।"

"२७—उसमें तू प्रत्येक प्रकार के वृक्षों के बीज, प्रत्येक प्रकार के फलों के बीज ला जिनमें सब से अधिक अन्न और सुगन्धि हो। प्रत्येक प्रकार की वस्तुओं में से दो-दो ला जिससे वह उस समय तक जब तक कि आदमी उस वर में रहे नष्ट न होने पावे।"

ये समानताएँ स्पष्ट हैं। प्रो. डारमेस्टेटर साहब लिखते हैं कि "यम का वर नूह की नौका से अधिक कुछ नहीं हुआ।"[3]

इस जल बाढ़ की कथा शतपथ ब्राह्मण में भी पाई जाती है कि जो वेदों को छोड़कर संस्कृत साहित्य की प्राचीनतम पुस्तकों में से है। उसमें बताया गया है कि एक मछली ने मनु को सूचना दी कि 'अमुक वर्ष में जल की

1. उत्पति पुस्तक ६—५—८, १३ २०।

2. देखो जन्दावस्ता भाग १ पृ. १०।

3. कुछ विद्वान् अनुवाद करते हुए भयानक शीत के स्थान में वर्षा, लिखते हैं। देखो जन्दावस्ता भाग १ पृ. १६ का फुट-नोट।

4. देखो जन्दावस्ता भाग १, पृ. १५—१० फरगर्ट १२

5. देखो जन्दावस्ता भाग पृ. ११

बाढ़ आवेगी अतएव एक नाव बनाओ और मेरी रक्षा करो। जब बाढ़ अधिक बढ़ने लगे तो तुम नाव में प्रवेश करो, मैं तुमको बचाऊँगी। तदनुसार ही मनु ने किया।' × × × × आगे यह बतलाया गया है कि बाढ़ समस्त जीवों को बहा ले गई, परन्तु मनु महाराज अपने नाव में बच जाने के कारण वर्त्तमान मनुष्य जाति के पिता हुए।

(३) डाक्टर स्पीगल अदन के बाग और ज़रदस्ती स्वर्ग के मध्य समानता बतलाते हैं। बाइबिल में वर्णित अदन के बाग की दो नदियों अर्थात् 'पिशन' और 'गिहन' को वे सिन्धु और फ़रात बतलाते हैं। और अदन के दो वृक्ष अर्थात् ज्ञान और जीवन के वृक्षों को वे श्वेत होम (संस्कृत सोम) उत्पन्न करने वाला 'गांव करन' वृक्ष और पीड़ाहीन वृक्ष बतलाते हैं। इन दो नदियों के सम्बन्ध में प्रो० मैक्समूलर लिखते हैं—"हम डाक्टर स्पीगल से सहमत हैं कि पिशन नदी के सिन्ध और गिहन के फ़रात नदी होने में बहुत कम सन्देह है।"[1]

परन्तु दोनों वृक्षों के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि "हम स्वीकार करते हैं कि जब तक हम पारसियों के दोनों वृक्षों के विषय में अधिक अभिज्ञता प्राप्त न करलें तब तक हमारी तनिक भी प्रवृत्ति (पारसियों के) पीडाहीन पेड़ और (बाइबिल के) ज्ञान-वृक्ष के एक होने की ओर नहीं होती। परन्तु सम्भव है कि श्वेतहोम का वृक्ष हमें (बाइबिल के) जीवनतरु का स्मरण करावे, क्योंकि होम और भारतवर्षीय सोम दोनों के विषय में यही विश्वास है कि उनके रसपान करने वाले अमरत्व को प्राप्त होते हैं।"[2]

सारांश

हमने यह सिद्ध किया कि यहूदियों ने अपने धर्म के मुख्य सिद्धांत ज़रदुश्तियों से लिये। पूछा जा सकता है कि यहूदी धर्म में कौनसी बात मौलिक वा नई है? उसमें वह कौनसी बात है जो ज़रदुश्तियों के मत से निराली हैं और जिसके सम्बन्ध में विशेष प्रकार का ईश्वरीय ज्ञान होने का दावा किया जा सकता है? ईसाई और यहूदी कदाचित यह उत्तर देंगे कि यहूदी मत की उत्कृष्टता और उसके ईश्वरीय ज्ञान होने का यह प्रमाण है कि वे पारसियों की दो ईश्वर वाली शिक्षा की अपेक्षा उत्तमतर एक-ईश्वरवाद सिखाते हैं इसका हम उत्तर यह देंगे कि ईसाइयों के ईश्वरवाद की तो कथा ही क्या है जिसमें त्रैत (अर्थात् एक ईश्वर में तीन आत्माओं) की अचिन्तनीय और विलक्षण शिक्षा है, यहूदी लोग भी ईश्वर के सम्बन्ध

1. Chips Vol. 1, p. 156 2. देखो Chips Vol, 1 p. 156-157

में ऐसे विचारों का अभिमान नहीं कर सकते जो पारसियों के विचारों की अपेक्षा पवित्रतर और उत्तम हैं। एक स्थल पर जिसका एक अंश हम पूर्व उद्धृत कर चुके हैं—डाक्टर हॉग लिखते हैं—"स्पितामा ज़रदुश्त का अहुर-मज़दा व ईश्वर–सम्बन्धी विचार उस इलाही वा जेहोवा (ईश्वर) के विचारों से सर्वथा समानता रखता है जिसका वर्णन हम पुरानी 'धर्म पुस्तक' में पाते हैं वह अहुरमज़दा को सांसारिक और आत्मिक जीवन का विधाता, अखिल विश्व का स्वामी कहता है, जिसके हाथ में समस्त प्राणी हैं, वह प्रकाशस्वरूप और प्रकाश का मूल है। वह बुद्धि और ज्ञानस्वरूप है। उसकी आधीनता में सांसारिक और आत्मिक प्रत्येक वस्तु है, यथा—(वहुमन) विशुद्ध मन, (अमरताद) अमरत्व (होर्बताद) स्वास्थ्य (अशाव-हिश्त) सर्वोत्कृष्ट धर्म, (अमैति) भक्ति और पवित्रता, क्षतवैर्य्य प्रत्येक सांसारिक उत्तम वस्तु की बहुलता—ये सब विभूतियाँ वह उस पुरुष को प्रदान करता है जो मन, वचन, कर्म तीनों में सच्चा है। अखिल विश्व का शासक होने से वह सज्जनों को केवल उपहार ही नहीं देता प्रत्युत दुष्ट लोगों को दण्ड भी देता है (देखो पृ. ४३५) भलाई और बुराई, सुख और दुःख जो कुछ पैदा किया गया है वह सब उसी का किया है। अहुरमज़दा के समान शक्तिशाली एक दूसरा बुरा आत्मा जो उसका सदैव विरोध करता रहता है, यह विचार ज़रदुश्ती ईश्वरवाद के सर्वथा प्रतिकूल है, यद्यपि पिछले समय की वेन्दीदाद जैसी पुस्तकों से प्राचीन ज़रदुश्तियों में इस प्रकार के विचारों की विद्यमानता सिद्ध हो सकती है।"[1]

वह अन्यत्र लिखते हैं—"गाथाओं से और विशेषकर दूसरी गाथा से इन बातों को हर कोई सुलभतापूर्वक जान सकता है कि उसका (ज़रदुश्त का) ब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान अधिकांश एकता पर अवलम्बित है।[2]

हम अहुरगाथा से छठा मन्त्र उद्धृत करते हैं—"तुम उनमें से दोनों के साथ सम्बन्ध नहीं रख सकते, अर्थात् एक ही समय में एक ईश्वर और बहु देवों के उपासक नहीं बन सकते।"[3]

यह बहुत स्पष्ट है, वस्तुतः बाईबिल में एक ईश्वरवाद के सम्बन्ध में इससे अधिक पुष्ट और स्पष्ट विवरण की अन्वेषणा करना वृथा है। रहा दो ईश्वर सम्बन्धी दोष जो ज़रदुश्तियों पर बहुधा लगाया जाता है, हम कह सकते हैं कि न तो ईसाई धर्म और न यहूदी वा मुसलमानी मत उससे बच सकता है। डाक्टर E. W. West ने पारसी ग्रन्थ Pahalvi Texts

1 Haug's Essays, p. 30. 2 Ibid p. 30. 3 Ibid p. 150.

(Sacred Books of the Series) के अनुवाद की भूमिका में स्पष्ट लिखा है कि यदि पाठकगण उस अपूर्व विचार के समर्थन की खोज करेंगे कि पारसी धर्म में ईसाई धर्म की अपेक्षा अधिक दो ईश्वरवाद की शिक्षा है जैसा कि साधारणतः कट्टर ईसाई ग्रन्थकार सिद्ध किया करते हैं, अथवा उस विचार का संकेत खोजेंगे कि भली बुरी आत्मा की उत्पत्ति अनन्त काल से हुई जैसा कि इस धर्म से अनभिज्ञ लोग कहा करते हैं, तो उनकी अन्वेषण निरर्थक होगी। यही नहीं, प्रत्युत बाईबिल और कुरान का ईश्वर और शैतान सम्बन्धी विचार ज़रदुश्ती मत के सिद्धान्त का कुछ बिगड़ा हुआ रूप है। ज़रदुश्ती विचार पूर्वोक्त धर्म की अपेक्षा अधिक युक्त है। डॉ. हॉग के निम्नलिखित शब्दों से अधिक और क्या स्पष्टीकरण हो सकता है—

"यह सम्मति जो अब इतनी अधिक प्रसिद्ध हो गई है कि ज़रदुश्त दो शक्तियों की शिक्षा देते थे अर्थात् यह सिखलाते थे कि आरम्भ में दो स्वतन्त्र आत्माएँ थीं, एक अच्छी और दूसरी बुरी, एक दूसरी से सर्वथा पृथक् और विपरीत रहने वाली—यह सम्मति सत् जरदुश्त के तत्वाद और उनके ईश्वरवाद में भ्रान्ति करने से पैदा हुई। परमात्मा की एकता और अविभागता के महान् विचार पर पहुँचकर उसने उस बड़े प्रश्न को हल करने का यत्न किया जिसकी ओर अनेक प्राचीन तथा आधुनिक विद्वानों का ध्यान गया है, अर्थात् संसार की अपूर्णताएँ, विविध प्रकार के दूषण, पाप और नीचता आदि, ईश्वर की भलाई पवित्रता और न्याय से किस प्रकार प्रतिकूल हो सकते हैं? प्राचीनकाल के इस महामुनि ने दो मूल कारणों की कल्पना करके इस कठिन प्रश्न को तात्विक दृष्टि से हल किया। ये कारण यद्यपि भिन्न थे तथापि उन्होंने मिलकर प्राकृतिक एवम् आध्यात्मिक संसार की उत्पत्ति की। यह बात यस्त अ. ३० (देखो पृ. १४९-१५१) से भलीभाँति जानी जा सकती है।"

"अहुरमज़दा जिसने **सत्** (दया) को उत्पन्न किया बहुमनो अर्थात् 'अच्छा मन' कहलाता है दूसरा जिससे, **असत्** (अज्यैति) पैदा हुई **अकस्मनो** अर्थात् 'बुरा मन' के नाम से विशेषित है। अच्छी, सच्ची और पूर्ण वस्तुएँ जो सत् पदार्थों के अन्तर्गत हैं, अच्छे मन के परिणामस्वरूप हैं और जो कुछ बुरा और भ्रमयुक्त है, असत् की परिधि के अन्तर्गत है, बुरे मन का फल है। ये दोनों संसार चक्र को चलाने हेतु हैं। प्रारम्भ से ही परस्पर संयुक्त हैं। और इसलिये **यिम** (संकृत यमौ) कहाते हैं। वे अहुरमज़दा में और मनुष्य में सर्वत्र उपस्थित है।"

'ये दोनों आदि शक्तियें यदि स्वयम् अहुरमज़दा में मिली हुई समझी जावें तो उनको बहुमनो और अकमनो नहीं कहते बल्कि **स्पन्तामन्यु** अर्थात् 'अहानिकारक आत्मा' और अंगरामन्यु अर्थात् 'हानिकारक आत्मा' कहते हैं। यह बात य० १९।९ (देखो पृ० १८७) से निर्भ्रान्त रूप से जानी जा सकती है कि अंगरामन्यु अहुरमज़दा के विरुद्ध कोई पृथक् व्यक्ति नहीं है। वहाँ अहुरमज़दा अपनी दो आत्माओं का वर्णन करता है जो उसके अन्तर्गत हैं। उन्हें अन्य स्थलों पर (पास ५७।२ देखो पृ० १८९) दो उत्पादक और दो स्वामी पायू कहा गया है।....स्पन्तामन्यु प्रकृति की समस्त उज्ज्वल और चमकदार अच्छी और लायक वस्तुओं का उत्पादक कहा गया है और अंगरामन्यु ने उन समस्त वस्तुओं को बनाया जो अन्धकारमय और हानिकारक समझी जाती हैं। दोनों का दिन रात्रि की तरह वियोग नहीं होता। यद्यपि एक दूसरे के विरोधी हैं तथापि दोनों सृष्टिरक्षा के लिये आवश्यक हैं।'

"यह वास्तविक विचार दो उत्पादक आत्माओं का है जो ईश्वर के केवल दो भाग रूप हैं। परन्तु उस बड़े धर्म संस्थापक की यह शिक्षा काल पाकर भूल और मिथ्या व्याख्याओं के कारण बिगड़ गई और बदल गई। स्पन्तामन्यु को केवल अहुरमज़दा का नाम समझ लिया गया, और फिर अंगरामन्यु अहुरमज़दा से सर्वथा पृथक् होने के कारण अहुरमज़दा का प्रबल विरोधी समझ लिया गया। इस प्रकार ईश्वर और शैतान के द्वैतवाद का आविर्भाव हुआ।"[1]

डाक्टर हॉग की सम्मति में ज़रदुश्त का अंगरामन्यु सम्बन्धी विचार फिलासफी के कुछेक कठिन प्रश्नों की पूर्ति करने का यत्नमात्र था। परन्तु यह बात बाइबिल के शैतान के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। उसका पृथक् व्यक्तित्व निर्विवाद है। ऐसी अवस्था में हम नहीं समझ सकते कि यहूदी मत किस प्रकार प्रतिज्ञा करता है कि वह ज़रदुस्ती मत की अपेक्षा उत्तम ईश्वरवाद की शिक्षा देता है। वास्तव में ईश्वर के सम्बन्ध में ज़रदुस्तियों का विचार अनेक बातों में यहूदियों के बदला लेने वाले, क्षण में रुष्ट और क्षण में प्रसन्न होने वाले और क्रोधी जहोवा से उच्चतर है। केवल यह द्वैतवाद जैसा उसका वर्णन किया गया है—ऐसा दोष है जो ज़रदुस्ती ईश्वरवाद की उत्कृष्टता पर कुछ अंश तक धब्बा लगाता है। अगले अध्याय में हम इस बात को सिद्ध करेंगे कि केवल वेदोक्त ईश्वरवाद ही इन दूषणों से रहित है, और केवल वही ईश्वरवाद सब से सच्चा, विशुद्ध और तात्विक है।

Haug's Essays, p. 30 33

पंचम अध्याय

ज़रदुस्ती मत का आधार वैदिक धर्म है

अब हम अपनी तर्क-शृंखला की अन्तिम कड़ी की ओर आते हैं, जो यह कि ज़रदुस्ती मत का उत्पत्ति-स्थान वेद हैं। हम इस विषय को—

वैदिक और ज़न्दभाषा के सादृश्य से आरम्भ करेंगे

यह समानता इतनी आश्चर्यजनक है कि एशियाटिक सोसायटी के प्रसिद्ध प्रवर्त्तक सर विलियम जोन्स लिखते हैं—"जब मैंने ज़न्दभाषा के शब्द कोष का अनुशीलन किया तो यह ज्ञात करके कि उसके १० शब्दों में ६ या ७ शब्द शुद्ध संस्कृत के हैं अकथनीय आश्चर्य हुआ, यहाँ तक कि उनकी कुछेक विभक्तियाँ भी (संस्कृत) व्याकरण के नियमानुसार ही बनाई गई हैं, जैसे युष्मद् की षष्ठी बहुवचन 'युष्माकम्' है।"[1]

जरदुस्ती धर्म और साहित्य के एक उनसे अधिक प्रसिद्ध विद्वान् अर्थात् डाक्टर हॉग लिखते हैं—"अवस्ता की भाषा का प्राचीन संस्कृत से जो आजकल वैदिक भाषा कही जाती है, इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है जितना यूनानी भाषा को विविध बोलियों (Aaolic, Conic, Ionic or Attic) का एक दूसरे से।"

ब्राह्मणों के पवित्र मन्त्रों की भाषा, और पारसियों की भाषा एक ही जाति के दो पृथक् पृथक् भेदों की बोलियाँ हैं, जैसे अयोनियन Ionians, Dorians, Aeolians इत्यादि यूनानी जाति के विविध भेद थे इनको साधारणतः हेलनीज Hellens कहते थे। इसी प्रकार ब्राह्मण और पारसी भी उस जाति के दो भेद थे जिसको वेद और जन्दावस्ता दोनों ही आर्य के नाम से पुकारते हैं।"[2]

व्याकरण सम्बन्धी रूपों के विषय में डाक्टर हॉग कहते हैं—

"चाहे वे सर्वथा एक ही प्रकार के न हों तो भी उनमें इतना अधिक साम्य है कि जो कोई संस्कृत का थोड़ा भी ज्ञान रखता है वह उसे सरलता से

---

1 देखो Asiatric Researchers, 11 3, quoted by Professor Dermesteter in Zendavesta part 1, Intr p. xx.

2 Haug's Essays p. 69.

पहचान सकता है। संस्कृत और अवस्ता के व्याकरण सम्बन्धी रूपों की उत्पत्ति एक ही प्रकार से होने का सबसे अधिक सुदृढ़ प्रमाण यह है कि जहाँ व्यत्यय वा किसी नियम के अपवाद हैं वहाँ भी उनमें अनुकूलता पाई जाती है। उदाहरणार्थ सर्वनाम और संज्ञा सम्बन्धी विभक्तियों के भेद दोनों भाषाओं में एक से ही हैं, **अहमै** 'उसके लिए' = संस्कृत अस्मै; **कहमै** 'किसके लिए' = संस्कृत कस्मै; **यशाम्** 'जिनका' = संस्कृत येषाम्। यही बात हम कुछ विशेष संज्ञाओं की विभक्तियों में भी पाते हैं जैसे ज़न्द **स्पन्** संस्कृत **श्वन्** (कुत्ता) शब्द के रूप देखिये :—

विभक्ति	**ज़न्द**	**संस्कृत**
एक वचन प्रथमा	स्पा	श्वा
एक वचन द्वितीया	स्पानम्	श्वानम्
एक वचन चतुर्थी	सुने	शुने
एक वचन षष्ठी	सुनो	शुनः
बहुवचन प्रथमा	स्पानो	श्वानः
बहुवचन षष्ठी	सुनाम्	शुनाम्

ऐसे ही ज़न्द **पथन्** संस्कृत **पथिन्** के रूप—

बहुवचन प्रथमा	पन्ता	पन्थाः
बहुवचन तृतीया	पथा	पथा
बहुवचन प्रथमा	पन्तानो	पन्थानः
बहुवचन द्वितीया	पथो	पथः
बहुवचन षष्ठी	पाथम्	पथाम्।"[1]

आगे वे कहते हैं—"संज्ञाओं से जिनमें तीन वचन और ८ कारक पाये जाते हैं यह बात अच्छी तरह जानी जा सकती है कि ज़न्द भाषा वैदिक संस्कृत से प्रायः पूर्णरूपेण मिलती है।"[2]

ज़न्दावस्ता के विद्वान् अनुवादक पादरी एल. एच. मिल्स का कथन है कि—"मैंने भी गाथाओं[3] की भाषा का बहुत-सा भाग वैदिक संस्कृत में परिवर्त्तित किया है (वस्तुतः यह एक सार्वभौमिक प्रथा हो गई है कि

1 Haug's Essay, p. 72.

2 Ibid, p. 64.

3 ज़न्दावस्ता के प्राचीन भाग का नाम गाथा है।

गाथा और ऋचाओं के मध्य जहाँ तक समानता रहती है वहाँ तक समस्त शब्दों की तुलना वैदिक भाषा से की जाती है ।" [1])

प्रोफेसर मैक्समूलर कहते हैं—

यूनिज बर्नफ़ (Eugene Burnof) के ग्रन्थों और बौप्यसाहब के मूल्यवान् लेख से जो उन्होंने अपनी (Comparative Grammar) नामक पुस्तक में दिया है, यह बात स्पष्ट है कि ज़न्द भाषा अपने व्याकरण और शब्दकोष के विचार से किसी अन्य आर्य Indo-European भाषा की अपेक्षा संस्कृत से अधिक सामीप्य रखती है। ज़न्द के बहुत से शब्दों में केवल ज़न्द अक्षर बदल कर उनके स्थान में वैसा ही संस्कृत अक्षर लिख देने से वे विशुद्ध संस्कृत के शब्द बन जाते हैं। ज़न्द भाषा और संस्कृत में भेद विशेषकर ऊष्म, अनुनासिक और विसर्ग का है। उदाहरणार्थ संस्कृत 'स' के स्थान में ज़न्द 'ह' आता है। जहाँ संस्कृत भाषा आर्य जाति की उत्तरीय भाषाओं अर्थात् यूरोप की भाषाओं से शब्द और व्याकरण सम्बन्धी विशेषताओं में भेद रखती है वहाँ यह ज़न्द भाषा से बहुधा साहृष्य रखती है। गिनती के शब्द भी दोनों में १०० तक एक से ही हैं। हज़ार का नाम सहस्र केवल संस्कृत में पाया जाता है और ज़न्द के अतिरिक्त जिसमें वह हज़ार हो जाता है, अन्य (Indo-European) यूरोपियन किसी बोली में वह नहीं आता है।" [2]

दोनों भाषाओं के मध्य पाठकों को स्पष्ट और घनिष्ट सम्बन्ध का बोध कराने के उद्देश्य से यहाँ हम कुछ मुख्य शब्दों की एक सूची देते हैं जिसमें संस्कृत और ज़न्द भाषा के रूप पास-पास रक्खे गये हैं और उन छोटे-छोटे परिवर्तनों को भी दिखलाया है जो संस्कृत से ज़न्द में जाते हुए शब्दों में हो जाते हैं। जिन शब्दों के नीचे रेखा खींची गई है वे विशेष ध्यान देने योग्य हैं। **संस्कृत 'स' का ज़न्द में 'ह' हो जाता है।**

संस्कृत	ज़न्द	अर्थ
असुर [1]	अहुर [3]	ईश्वर, प्राण या जीवन का दाता

1 जन्दावस्ता भाग ३, भूमिका पृ. १५ (S. B. E. Series).

2 देखो Chips, vol. I, pp. 82–83.

3 'असुर शब्द—असु (प्राण या जीवन) + रा=देना, ड (प्रत्यय), अथवा असु (प्राण) = रम = आनन्द करना, से बन सकता है। उसका अक्षरार्थ (प्राणदाता) है। अर्वाचीन संस्कृत में यह शब्द सदा बुरे अर्थों में व्यवहृत होने लगा है, और वह केवल राक्षस का पर्यायवाचक बन गया है, जिसका अर्थ यह है कि जो

संस्कृत	जन्द	अर्थ
सेना	हेना	फ़ौज
अस्मि	अहमि	मैं हूँ
सन्ति	हेन्ति	वे हैं
असु	अहु	जीवन, प्राण
सोम	होम	एक औषधि वा बूटी
सप्त	हप्त (फारसी हफ़्त)	सात
मास	माह (फा० माह)	महीना
विवस्वत्	विवंहुत[1]	सूर्य, एक-व्यक्तिवाचक संज्ञा

संस्कृत 'ह' का जन्द में 'ज' हो जाता है :—

संस्कृत	जन्द	अर्थ
हृदय	ज़रदय	दिल
हस्त	ज़स्त (फा० दस्त)	हाथ
वराह	वराज	सूअर
होता	ज़ोता	यज्ञ में आहुति देने वाला
आहुति	आजुति	आहुति
हिम	ज़िम	वरफ-शील
ह्वे	ज्वे	पुकारना

व्यक्ति केवल प्राणों में रमण करता अर्थात् अपने वर्तमान जीवन में प्रसन्न होता वा उसका उपभोग करता है, आगामी जीवन का ध्यान नहीं करता, जो केवल शरीर का पोषण करता है आत्मा का नहीं करता। परन्तु वेदों में यह शब्द अनेक बार परमेश्वर के लिए प्रयुक्त किया गया है। हम डाक्टर हॉग की सम्मत्ति उद्धृत करते हैं :-

"ऋग्वेद के प्राचीन भागों में हम 'असुर' शब्द को उन्हीं अच्छे और प्रशस्त अर्थों में व्यवहृत हुआ पाते हैं जैसा कि ज़न्दवस्ता में। प्रधान देवता यथा इन्द्र (ऋ. वे. १, ५४, ३) वरुण (ऋ. वे. १, २४, १४) अग्नि (ऋ. वे. ४, २, ४, ७, २, ३) सवितृ (ऋ. वे. १, ३, ५, ७) रुद्र या शिव (ऋ. वे. ५, ४२, ११) इत्यादि को असुर की पदवी से सम्मानित किया गया है। इसके अर्थ 'जीवित' और 'आत्मिक' के हैं। यह मानवी स्वरूप के मुकाबले में ईश्वरीय स्वरूप का बोधक है।" (Haug's Essays, pp. 268-269)

1. कभी-कभी संस्कृत 'स' ज़न्द 'ह' से बदल जाता है तो उसके पूर्व अनुस्वार बढ़ा दिया जाता है, अर्थात् सानुनासिक 'ह' हो जाता है, यथा हुआ और विवंहुत में।

बाहु	बाजु	भुजा
अहि	अजि	१-सर्प, २-पाप, ३-मेघ
मेधा	मज़दा	बुद्धि, ईश्वर जो सर्वज्ञ है।

संस्कृत 'ज' ज़न्द के 'ज़' से बदल जाता है :–

संस्कृत	ज़न्द	अर्थ
जन	ज़न	उत्पन्न करना
वज्र	वज्र	इन्द्र का अस्त्र—बिजली
जिह्वा	*हिज़्वा (फ़ा० ज़बान)	जीभ
अजा	अज़ा	बकरी
जानु	ज़ानु	घुटना
यज्ञ	यस्नु	पूजा, बली
यजत	यज़त	उपास्य पूज्य देवदत्त

संस्कृत 'श्व' ज़न्द के 'स्प' से बदल जाता है :–

विश्व	विस्प	सब
अश्व	अस्प	घोड़ा
श्वन्	स्पन्	कुत्ता

संस्कृत 'श्व' और 'स्व' कभी-कभी ज़न्द में 'क्' में बदल जाता है:–

श्वसुर	कुसुर (फ़ा० खुसुर)	सुसुर
स्वप्न	क़फ्न	१—सपना
स्वाप	ख़्वाब (फा०)	२—सोना, सपना देखना

संस्कृत 'त' ज़न्द के 'थ' से बदल जाता है :–

मित्र	मिथ् (फ़ा० मिहिर)	१—मित्र २—सूर्य्य ३—ईश्वर

* अधिक मिलता हुआ रूप 'जिह्व' होता परन्तु व्यंजनों का स्थान परिवर्त्तन हो गया है। व्याकरण सम्बन्धी परिवर्त्तनों में यह एक बहुत साधारण बात है। उदाहरणार्थ संस्कृत 'चक्र' (घेरा या पहिया) ज़न्द में 'चरखे' और संस्कृत में 'वक्र' का अंग्रेजी में Curve (कर्व) हो जाता है। संस्कृत 'कश्यप' पश्यक (सबको देखने वाला) से निकला है।

संस्कृत	ज़न्द	अर्थ
त्रित	त्रिथ	चिकित्सक
त्रतान	थ्रैतान (फ़ा० फ़रीदून)	,,
मन्त्र	मन्थ्र	मन्त्र

संस्कृत के बहुत से शब्द ज़न्द में विना किसी प्रकार के परिवर्त्तन के चले गये हैं और कुछ अन्य शब्दों में स्वर आदि थोड़ा सा परिवर्त्तन हुआ है :—

पितर् (पितृ)	पितर (फ़ा० पिदर)	बाप
मातर् (मातृ)	मातर (फ़ा० मादर)	मा
भ्रातर् (भातृ)	ब्रातर (फ़ा० ब्रादर)	भाई
दुहितर	दुग्धर (फ़ा० दुख़्तर)	लड़की
पशु	पशु	जानवर
गो	गाउ (फ़ा० गाव)	गाय
उक्षन	उक्षन	बैल
स्थूर	स्तोर	बछड़ा
मक्षी	मक्षी (फ़ा० मगस)	१—मक्खी २—मधुमक्खी
शरद्	सरध (फ़ा० सर्द)	शीतकाल
वात	बाद (फ़ा० बाद)	हवा
अभ्र	अब्र (फ़ा० अब्र)	बादल
यव	यव	जौ
वैद्य	वैध्य	चिकित्सक
ऋत्विज्	रथ्वि	यज्ञ करने वाला
नमस्ते	नमस्ते※	मैं तुमको नमता हूँ
मनस्	मनो	मन विचार
यम	यिम	शासक, राजा विशेष का नाम

※ हम आतर्श यश्त (Atarsh yasht) से उद्घृत करते हैं जहां ये शब्द आये हैं:—"नमस्ते आतर्श मज़दा अहुरह्य"

संस्कृत	ज़न्द	अर्थ
वरुण	बरेन	देवताओं के नाम
वृत्रहन्	वृथ्रन्घ	
वायु	वायु	
अर्य्यमन्	एर्यमन	
अर्मति[1]	अर्मेति	१—भक्ति २—पृथ्वी
इषु	इशु	बाण
रथ	रथ	रथ
रथस्थ, रथेष्ट	रथेस्थ	रथ का सवार
गांधर्व	गाधर्व	
प्रश्न	प्रश्न	सवाल
अथर्वन्	अथर्वन	पुरोहित
गाथा	गाथा, भजन	प्रार्थना पवित्र गीत
इष्टि	इष्टि	पूजने की क्रिया वा यज्ञ
अपांनपात्	अपांनपात	बादलों की बिजली
छन्दः[2]	ज़न्द	१—पद्यात्मक भाषा २—ईश्वरीर ज्ञान

1. "अर्मति वेदों में एक स्त्रीलिङ्ग वाचक पद है, जिसके अर्थ १. भक्ति आज्ञा-पालन (ऋ० १-६-३४-२१) २. पृथ्वी (ऋ० १०-९२-४-५) हैं। यह और अर्मैति नामक प्रधान स्वर्गीयदूत एक ही हैं, जैसा कि पाठकों को तृतीय निबन्ध से ज्ञात हो गया होगा। ज़न्दावस्ता में भी ठीक यही दो अर्थ आते हैं।" (High)

2. डाक्टर हॉग ज़न्द शब्द को 'ज़न' धातु से (जो संस्कृत 'ज्ञा' जानने से मिलता है) निकला बताते हैं और संस्कृत शब्द 'वेद' के समान उसके अर्थ करते हैं। हम प्रो० मैक्समूलर से सहमत हैं कि संस्कृत शब्द 'छन्द' से निकलता है। वे कहते हैं :—"मेरा अब भी यही निश्चय है कि वस्तुतः जन्द का नाम संस्कृत छन्द (अर्थात् पद्य भाषा (जैसे Scandere) शब्द का अपभ्रंश है। यह नाम पाणिनि आदि ने वेदों की भाषा को दिया है। पाणिनि-व्याकरण में हम देखते हैं कि कुछ रूप छन्द में ही आते हैं, प्रचलित संस्कृत में नहीं। हम सदैव उन स्थानों में छन्द शब्द का अनुवाद सदा ज़न्द कर सकते हैं, क्योंकि वे प्रायः सब ही नियम अवस्ता की भाषा (जन्द) से समान रूप से सम्बन्ध रखते हैं। (Chips Vol. 1, p. 84—85)।

संस्कृत	ज़न्द	अर्थ
अवस्था[1]	अवस्ता	जो स्थापित की गई व्यवस्था
इन्द्र		इन्द्र[1]
देव		देव[1]

यदि हम यहाँ ज़न्दावस्ता के दो-एक वचनों को उद्धृत करके उनका संस्कृत भाषा में अनुवाद कर दें तो कदाचित् यह अरुचिकर कार्य न होगा। उससे पाठकगण यह बात ज्ञात कर सकेंगे कि इन दोनों भाषाओं के मध्य कितना थोड़ा अन्तर है।

ज़न्द	वैदिक संस्कृत
विस्प द्रुक्ष जनैति	विश्व दुरक्षी ज़िन्वति

यह ध्यान करने की बात है कि जन्द शब्द पारसियों की धर्म-पुस्तक तथा उसकी भाषा दोनों के लिये प्रयुक्त होता है। पाठकों को यह बताने की आवश्यकता नहीं कि 'छन्द' शब्द भी उसी दो प्रकार दो अर्थों में व्यवहृत होता है, अर्थात् वेद और वैदिक भाषा दोनों के लिये आता है।

1. 'अवस्ता' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में डाक्टर हॉग लिखते हैं–सबसे उत्तम व्युत्पत्ति वही है कि यह शब्द 'अव+स्था' से [जिसका अर्थ 'स्थापित किया गया' या 'मूल' है] निकला है जैसे कि जे. मूलर (J. Muller) साहब ने १८३९ ई. में प्रस्ताव किया था।

इससे भी अधिक सन्तोषजनक अर्थ उपलब्ध हो सकते हैं यदि 'अवस्ता' को अ+विस्ता से निकाला जाय [जो विद् ज्ञाने धातु का 'क्त' प्रत्ययान्त रूप है] ऐसी व्युत्पत्ति करने से उसके अर्थ "जो कुछ जाना गया" या "ज्ञान" के होंगे जैसे कि वेद शब्द के अर्थ हैं जो ब्राह्मण की पवित्र पुस्तक है।" (Haug p 11)

इससे पिछले निर्वाचन में हमको कुछ खेंचातानी ज्ञात होती है। हमारे विचार विद् ज्ञाने धातु से जिससे वेद शब्द निकला है अवस्ता शब्द निकालने का वृथा प्रयत्न किया गया है। हम प्रो. मैक्समूलर साहब से सहमत हैं और मानते हैं कि 'अवस्ता' संस्कृत 'अवस्था' शब्द का दूसरा रूप है क्योंकि संस्कृत स्था जन्द से स्ता रूप ही जाता है। संस्कृत शब्द 'अवस्था' अब तक 'स्थापित' और स्थिरता के अर्थों में आता है। यद्यपि उसका प्रयोग "स्थापित नियम अथवा आदेश" के अर्थ में नहीं होता, तथापि हम 'व्यवस्था' शब्द को (जो 'अवस्था' ही का रूपान्तर है केवल 'वि' उपसर्ग उससे पूर्व अ लगा है) इस अर्थ में प्रयुक्त करते हैं।

1. वे दोनों शब्द जन्द में बुरे अर्थों में प्रयुक्त होने लगे हैं। 'देव' के अर्थ 'बुरी आत्मा' और 'इन्द्र' के अर्थ 'बुरी आत्माओं का राजा' हो गये हैं (इन्द्रसभा आदि

विस्प द्रुक्ष नशैति यथा हणोति ऐषाम्वाचम् प्रत्येक बुरी आत्मा का नाश हो जाता है। प्रत्येक बुरी आत्मा भाग जाती है। जब वह इन शब्दों को सुनता है। (यसन ३१ वचन ८ डाक्टर हॉग के ग्रन्थ के पृष्ठ १९६ से उद्धृत किया गया)	विश्व दुरक्षो नश्यति यदा शृणोति एतां वाचम्
तद्थ्वा परसा अर्श मई वच अहुर कसन जाथा पिता अशह्य पौर्व्यो, कसन क्वें स्तारांच दाद् अद्वानम्, के या माओ उख्श्यति निरेफस्ति थ्वद। ताचिद् मजदा बसेमी अन्चय विदुये (उश्तावेति गाथा यसन ४४ मन्त्र ३ जो हॉग के ग्रन्थ के १४४ पृष्ठ पर उद्धृत है)	तत् त्वा प्रष्ठा ऋतम् मे वच असुर ? को नः जनिता पिता ऋतस्य पौर्व्यः को नः कं (स्वः ?) तारश्चि । दाद् अध्वानम् । को यो माँस ऊक्ष्यति निरपस्यति त्वत् ।
हे अहुर, मैं तुझसे पूछता हूँ मुझे सत्य बता कि किस पैदा करने वाले, सत्य-निष्ठा के जनक ने सूर्य और नक्षत्रों को मार्ग दिया। तेरे अतिरिक्त ऐसा कौन है जो चन्द्रमा को बढ़ाता और घटाता है। हे मजदा ! मैं ऐसी और बातों को भी जानना चाहता हूँ।	ताद्दक् मेधा वश्मि अन्यच्च वित्तवे ।

नाटक देखने वा पढ़ने वालों ने इन्द्र की सभा में लाल देव और काले देव देखे होंगे) पाठक आश्चर्यपूर्वक स्मरण करेंगे कि इसी प्रकार 'असुर' शब्द का लौकिक संस्कृत में बिगाड़ हो गया है। इन तीनों शब्दों के अर्थ भ्रंश होने से कुछ पाश्चात्य विद्वान् यह परिणाम निकालते हैं कि सम्भवतः किसी समय में भारतवासी और जरदुश्तियों के मध्य मतभेद हो गया, परन्तु प्रो. डारमेस्टेटर इस धार्मिक फूट को स्वीकार नहीं करते।

(जन्दावस्ता भाग १ भूमिका पृ. ७९—८१ तक), हम इस विषय पर अध्याय ५ अंश १३ में फिर लिखेंगे।

२—छन्दों की समानता

यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि ज़न्दावस्ता की छन्द रचना भी वेदों से घनिष्ठ समानता रखती है। डाक्टर हॉग लिखते हैं कि "जो छन्द गाथाओं में प्रयुक्त हुए हैं वे उसी प्रकार के हैं जैसे कि वैदिक मन्त्र में पाये जाते हैं।"[1]

पादरी मिल्स का विचार है कि—"वैदिक मन्त्रों के छन्द गाथा और पिछले अवस्था के मन्त्रों से बहुत कुछ सादृश्य रखते हैं।"[2]

उदाहरणार्थ स्पन्तामन्यु गाथा के विषय में लिखते हैं—"इसके छन्द को त्रिष्टुप् कहा जा सकता है क्योंकि उसके प्रत्येक चरण में ११ अक्षर हैं और उसकी चार पदों में पूर्ति होती है।"[3]

उश्तावेती गाथा यसन अध्याय १४ मन्त्र ३ के विषय में जो ऊपर उद्धृत करके वैदिक संस्कृति में अनुवादित की गई है, डाक्टर हॉग कहते हैं कि—"यह छन्द (जिसमें ११ अक्षर के पाद हैं) वैदिक त्रिष्टुप् से बहुत घनिष्ठता रखता है, जिसमें ११, ११ अक्षरों के चार चरण होने से कुल ४४ अक्षर होते हैं। उश्तावेति गाथा में उसकी अपेक्षा ११ मात्रा का एक पद बढ़ जाता है। तीसरी स्पन्तामन्यु नामक गाथा से त्रिष्टुप् छन्द का पूरा-पूरा रूप मौजूद है; क्योंकि उसमें चार पद हैं और प्रत्येक पद ११, ११ अक्षरों का होने से कुल ४४ अक्षर हैं अर्थात् ठीक उतने ही अक्षर जितने त्रिष्टुप् में होते हैं।"[4]

यसन ३१ के ८ वें मन्त्र के सम्बन्ध में जो ऊपर उद्धृत कर संस्कृत में अनुवादित किया गया है डाक्टर हॉग लिखते हैं— "वह गायत्री छन्द से बहुत मिलता है, जिसमें २४ अक्षर और ३ पद होते हैं। प्रत्येक पद आठ-आठ अक्षरों में बँटा रहता है।"[5]

फ़रगर्द ९ के सम्बन्ध में डाक्टर हॉग लिखते हैं—"यह गीत प्राचीन वीर छन्द (अनुष्टुप्) में रचा है, जिससे साधारण श्लोक रचना की उत्पत्ति हुई।"[6]

---

1 Haug's Essays, p. 143.
2 Zend Avesta, Preface, p. XXXVI.
3 Ibid, p. 145.
4 Haug's Essays, p. p. 145.
5 Ibid, p. 144.
6 Ibid, p. 252.

वे फिर कहते हैं—"होम यश्त का छन्द अनुष्टुप् से बहुत मिलता जुलता है।"[1]

वे आगे और भी लिखते हैं—"जो छन्द यजुर्वेद में आये हैं उनमें से कई ऐसे हैं जो आसुरी नाम से पुकारे गये हैं, जैसे गायत्री आसुरी, उष्णिक् आसुरी, पंक्ति आसुरी ये ज़न्दावस्ता के गाथा ग्रन्थों में भी यथावत् पाये जाते हैं। गायत्री आसुरी में १५ अक्षर होते हैं। यह छन्द हमें अहुन्नवेति गाथाओं में मिलता है; परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि १६ अक्षरों में से जो साधारणतया इन छन्दों में पाये जाते हैं बहुधा १५ रह जाते हैं। (उदाहरणार्थ देखो यसन अध्याय ३१ मन्त्र ६ और ३१वें अध्याय की प्रथम दो पंक्तियाँ) उष्णिक् आसुरी जिसमें १४ अक्षर होते हैं (Vohukhshathra) बहुक्षत्र गाथा (यस २) में अविकाल रूप में पाया जाता है। इसके प्रत्येक पद में १४ अक्षर हैं। पंक्ति आसुरी में ११ अक्षर होते हैं ठीक उतने ही जितने कि हम उश्तवेति और स्पन्तामन्यु में पाते हैं।"[2]

३—दोनों धर्म के अनुयायिओं का समान नाम—"आर्य"

पाठकों को यह बताने की आवश्यकता नहीं कि जो लोग आज हिन्दू कहलाते हैं उनके पुरखा प्राचीन समय में आर्य[3] नाम से पुकारे जाते थे। परन्तु यह सब बात अधिक प्रसिद्ध नहीं है कि प्राचीन समय के पारसी लोग भी अपने को आर्य कहते थे।

आर्य शब्द ज़न्दावस्ता में अनेक स्थलों पर आया है; कुछ प्रमाण हम उद्धृत करते हैं :—

"आर्यों की प्रतिष्ठा में" (सिरोज़ह I, ९)[5]

"आर्यों की प्रतिष्ठा में जिन्हें मज़दा ने बनाया" (सिरोज़ह I, २५)[4]

"हम आर्यों के सन्मानार्थ हवन करते हैं जिन्हें मज़दा ने बनाया" (सिरोज़ह II, ९)[6]

---

1 Ibid, p. 175.

2 Haug's Essay, p. 271-272.

3 वेदों के अनुकूल सब मनुष्य के दो भेद हैं, आर्य और अनार्य। देखो ऋग्वेद १, १०, ५१, ८ "वजानीह्यर्यान् ये च दस्यवः।"

4 Zend Avesta, Vol. II, p. 7.

5 Ibid, p. 11.

6 Ibid, p. 15.

"आर्यों में का आर्य, तीव्र बाण चलाने वाला" (८ यश्त ६)[1]

"आर्यों के देश किस प्रकार उर्वरा शक्ति प्राप्त करेंगे" ?

(वही पुस्तक—८)[2]

"आर्य जाति उस पर भेंट चढ़ावे" (वही पुस्तक ५८)[3]

"गोचरों के स्वामी मिथ् की प्रतिष्ठा और प्रभुता के उपलक्ष्य में ऐसी हवि चढ़ाऊँगा जो अवश्य ही स्वीकार की जावेगी। विस्तृत गोचरों के स्वामी को जो आर्य जाति के निमित्त आनन्ददायक सुन्दर निवास स्थान प्रदान करता है हम हवि चढ़ाते हैं।"[4]

"अहुरमज़दा ने कहा यदि लोग वृत्रहत को भेंट चढ़ायेंगे जिसे अहुर ने बनाया है तो आर्यों के देशों में किसी शत्रु की सेना का प्रवेश न हो सकेगा, न कुष्ठ, न विषैले वृक्ष, न किसी शत्रु का रथ और न वैरी का उठा हुआ भाला स्थान पा सकेगा।" (बहराम यश्त ४८)[5]

अस्तद यश्त का १८ वाँ अध्याय केवल आर्यों की वीरता से भरा हुआ है। हम यहाँ उसका प्रारम्भिक श्लोक उद्धृत करते हैं :—

"अहुरमज़दा ने स्पितामा ज़रदुश्त से कहा - मैंने आर्यों को भोजन, पशुसमूह, धन, प्रतिष्ठा, ज्ञान-भन्डार और द्रव्य राशि से सम्पन्न किया है जिससे वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति और शत्रुओं का सामना कर सकें।[6]

४—समाज का चतुर्विध विभाग

इस बात को स्वीकार करने में अब समस्त विद्वान् सहमत हैं कि जिस जन्मपरक जातिभेद से वर्त्तमान हिन्दुसमाज ने भयानक रूप धारण कर रक्खा है तथा जिसके कारण हिन्दुओं का इतना अधिक अधःपतन और ह्रास हो चुका है वह वैदिक काल में प्रचलित न था और न वेद उसकी आज्ञा ही देते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में मनुष्य समाज का वैदिक विधि से विभाग सर्वथा भिन्न वस्तु थी। उसका बिगड़ा हुआ रूप प्रचलित जाति भेद है।

1. Ibid p. 95
2. Ibid, part II. p. 96
3. Ibid, p. 108
4. (10 यश्त 4) Ibid, p. 110
5. Zend Avesta, part II, p. 244
6. Ibid, p. 283.

इस विषय में अधिक जानने के लिये ग्रन्थकार का लिखा "जाति-भेद"[1] नामक पुस्तक पढ़ना चाहिये। संक्षेपतः प्राचीन वर्ण-व्यवस्था वर्त्तमान जाति-भेद से दो मुख्य बातों में भेद रखती है :—

१—वह मनुष्यमात्र को ४ समुदायों में विभक्त करती है, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। वर्णविभाग इससे आगे नहीं बढ़ता। वेद और वैदिक साहित्य की अन्य पुस्तकों में उन असंख्य उपजातियों का बिलकुल विधान न था जो अब प्रत्येक प्रधान जाति में पाया जाता है। इसने समाज के अगणित टुकड़े कर डाले, जिसके कारण आपस का स्वतन्त्र व्यवहार कठिन हो गया है।

२—यह वर्णव्यवस्था जन्म से नहीं मानी जाती थी, प्रत्युत यह योग्यता के ठीक और न्यायसंगत सिद्धान्त पर अवलम्बित थी। या यों कहिये कि यदि कोई मनुष्य ब्राह्मण की योग्यता प्राप्त कर लेता था, अर्थात् विद्या, सत्यनिष्ठा और सदाचारपूर्वक पुरोहित, अध्यापक और धार्मिक पथप्रदर्शक का कार्य करता था, वह शूद्र कुल में पैदा होने पर भी ब्राह्मण माना जाता था। यदि वह 'सैनिक कर्म' को पसन्द करता था तो क्षत्रिय होता था, उसके कुल का तनिक भी विचार नहीं किया जाता था और यदि वह व्यापार. वाणिज्य, कृषि या शिल्पकला में (जो पहिले द्विजन्मों के लिये अनुचित न समझे जाते थे) व्युत्पन्न होता था तो वैश्य कहाता था। जो इनमें से किसी भी वर्ण के आवश्यकीय गुणों से अलंकृत न होता था और केवल सेवा कर सकता था वह शूद्र कहाता था। इस प्रकार वैदिक वर्ण-व्यवस्था उन सब दोषों से रहित थी जो वर्तमान जाति-भेद में पाये जाते हैं और जिनके कारण यह भेद जैसा सर हेनरी मेन साहब ने लिखा है "सब मानुषी प्रथाओं में सबसे अधिक हानिकर और नाश करने वाला" हो गया है। वह किसी मनुष्य को आजन्म नीच कर्म करने की इसलिये व्यवस्था न देता था कि उसका जन्म दैवयोग से शूद्र कुल में हुआ है किसी मनुष्य को समाज में प्रतिष्ठा और उन्नति केवल इसलिये न मिलती थी कि उसने ब्राह्मण परिवार में जन्म लिया है। वर्णव्यवस्था व्यक्तिगत योग्यता और उत्कृष्टता के सिद्धान्तों पर मनुष्य समाज का वर्ण विभाग करती थी और यह सब कुछ कार्य-विभाग Division o Labour एवं सहकारिता Co-operation की शिक्षा के आधार पर था, जो सब प्रकार की सभ्यता

1. जाति-भेद, उसकी उत्पत्ति और वृद्धि, उससे हानियाँ और उनके उपाय — आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त की ओर से प्रकाशित।

की उन्नति और उत्पत्ति का कारणस्वरूप है। जो वेद-मंत्र पौराणिक हिन्दुओं के विचार में जाति-भेद का विधान करता है वह वस्तुतः मानव शरीर की उपमा देकर उन कार्यों का वर्णन करता है जिसको चारों वर्ण करते हैं। हम उस मन्त्र को नीचे उद्धृत करते हैं :—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्याँशूद्रो अजायत ॥

"ब्राह्मण उसके (मनुष्य जाति के) मस्तक हैं। क्षत्रिय उसकी भुजा हैं, जो वैश्य हैं वे उसके जंघा हैं और शूद्र उसके पाँव हैं।"[1]

मनुष्य समाज की यही चतुरंग वर्णव्यवस्था ज़न्दावस्था में भी पाई जाती है। डाक्टर हॉग लिखते हैं—"इरानियों की (जो हिन्दुस्तानियों से इतनी घनिष्ठता रखते हैं) धार्मिक पुस्तक जन्दावस्ता में स्पष्टतया वर्णों का उल्लेख है, केवल नामों का भेद है १–अथवा "पुरोहित" (संस्कृत अथर्वण) २–रथेस्तो "योद्धा" ३–वास्त्रियोफ्श्या "कृषिकार" ४–हुइती (पहलवी-हुइतोख्श) कारीगर (मजदूर)–(यसन १९–१७ Werterj)।"[2]

प्रो० डारमेस्टेटर ज़न्दावस्ता के अनुवाद में लिखते हैं—

"हम उसमें (अर्थात् दिनकिर्त में) चार वर्णों का वर्णन पाते हैं जो आचार्य के ग्रन्थ हमें उस वर्णन का स्मरण दिलाता है जो ब्राह्मणों की पुस्तकों में वर्णों की उत्पत्ति के विषय में है और जो निःसन्देह भारतवर्ष से लिया गया है।"[3]

हम ज़न्दावस्ता के प्रश्नोत्तरों से एक प्रमाण उद्धृत करते हैं :—

प्रश्न—मनुष्य की किन कक्षाओं की ओर शासक ध्यान दें ?

उत्तर—"पुरोहित, रथारोहित (योद्धाओं का मुखिया), विधिपूर्वक भूमि जोतने वाला और शिल्पकार, जीवन की वे अवस्था और कक्षाएँ हैं जो

1 पौराणिक लोग जो अर्थ करते हैं कि ब्राह्मण ईश्वर के मुख से उत्पन्न हुये; क्षत्रिय उसकी भुजाओं से—यह अशुद्ध है, और प्रसंग से भी बिल्कुल विपरीत है। इस विषय पर अधिक विस्तार से जानने तथा मन्त्रों की व्याख्या देखने के लिये ग्रन्थकार कृत "वैदिक मंत्र नं. १ (मनुष्य समाज)" को पढ़िये, जिसको आर्यप्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रांत ने प्रकाशित किया है।

2 Quoted from Haug in Muir's Sanshkrit Texts, Part II p. 561.

3 Zend Avesta, part I, p. XXXIII (S. B. E. S.)

शासकों के ध्यान देने योग्य हैं। ये धार्मिक नियमों की पूर्ति करती हैं जिनके द्वारा समाज की सचाई के क्षेत्र में वृद्धि होती है।"[1]

पारसी धर्म की अर्वाचीन पुस्तकों में भी इन चार वर्णों का वर्णन है। यद्यपि उनके नामों में पीछे परिवर्त्तन हो गया है उदाहरणार्थ नामा मिहाबाद में लिखा है–हे आबाद ! ईश्वर की इच्छा आबादियों के धर्म के विरुद्ध नहीं है। निम्नलिखित चार वर्णों में से जो कोई इस मार्ग पर चलेगा वह स्वर्ग पावेगा--होरिस्तान्, नूरिस्तारान्, सोरिस्तारान्, रोजिस्तारान्। पारसियों का सबसे पिछला धर्म-ग्रन्थ लेखक सामान पंचम उपर्युक्त कथन पर इस प्रकार टीका करता है :—

होरिस्तारान् को पहलवी में रथोर्नान[2] कहते हैं। वे पुरोहित हैं और इसलिये बनाये गये हैं कि धर्म की रक्षा करें; उसकी उन्नति और अन्वेषण करें और राज्य प्रबन्ध में सहायता दें।

नुरिस्तारान् को पहलवी में रथेस्तारान्[3] कहते हैं। वे राजा और योद्धा हैं और ऐसी योग्यता रखते हैं कि उन्हें मुखिया, सरदार, शासक तथा देश का प्रबन्धकर्ता नियुक्त किया जावे।

पोरिस्तारान् को पहलवी में वास्तरयोशान् कहते हैं। वे सब प्रकार को सेवा करते हैं।

रोज़िस्तारान् को पहलवी में होथथायन् कहते हैं। वे सब प्रकार के उद्यम और कृषि कार्य करते हैं। इन समुदायों के अतिरिक्त तुझे और कोई मनुष्य जाति न मिलेगी (अर्थात् इन चार वर्णों में समस्त मनुष्य जाति आ जाती है।)

आर्यों की चारों वर्णों की व्यवस्था से अभिज्ञ ऐसा कौन पुरुष हो सकता है जो पारसी ग्रन्थों में लिखित उपर्युक्त वर्ण-विभाग की उत्पत्ति वेदों से न माने।

इसी सम्बन्ध में यह कथन करना भी मनोरंजक होगा कि वैदिक धर्म के अनुयायी द्विजों (अर्थात् पूर्व के तीन वर्णों) की भाँति पारसियों के लिये

1. Zend Avesta, part 1, p. XXXIII (S. B. E. S.)
2. जन्द 'अथ्वन्' = संस्कृत 'अथर्वन' (देखो डाक्टर हॉग का लेख जो पहिले दिया जा चुका है)।
3 ज़न्द 'रथेस्त' = संस्कृत 'रथेष्ठ' अर्थात् रथ में बैठने वाला वा योद्धा

भी यज्ञोपवीत धारण करने का विधान किया गया है, जिसे वे 'कुश्ती' कहते हैं। हम वेन्दिदाद से निम्नलिखित प्रमाण देते हैं :—

"ज़रदुश्त ने अहुरमज़दा से पूछा—हे अहुरमज़दा! किस अपराध के कारण अपराधी मृत्यु-दण्ड पाने के योग्य होता है? अहुरमज़दा ने कहा—'बुरे मत वा धर्म की शिक्षा देने से' हे स्पितामा ज़रदुश्त! जो कोई तीन वसन्त ऋतुओं तक पवित्र सूत्र (कुश्ती) नहीं धारण करता, गाथाओं का पाठ नहीं करता, पवित्र जल की प्रतिष्ठा नहीं करता इत्यादि।"[1]

पारसियों की किश्ती सातवें वर्ष में होती है। वैदिक धर्म में यज्ञोपवीत का समय आठवें वर्ष से आरम्भ होता है।

५—ईश्वर-संबन्धी विचार

ईश्वर के सम्बन्ध में वैदिक और ज़रदुश्ती शिक्षाओं में समानता दिखाने के पूर्व उन भ्रमों को दूर कर देना आवश्यकीय समझते हैं जो अब तक वेदोक्त ईश्वर के सम्बन्ध में फैल रहे हैं।

वेदों पर प्रायः यह दोष लगाया जाता है कि वे बहुदेवोपासना, तत्व पूजा और प्रकृति-पूजा आदि की शिक्षा देते हैं। यह दोषारोपण सर्वथा न्याय विरुद्ध है। इस भूल का कारण अग्नि, इंद्र, मित्र, वरुण आदि वैदिक शब्दों के दो भिन्न अर्थों का मिश्रित करना है। वैदिक निर्वचन का यह प्राचीन और सुनिश्चित सिद्धान्त है, जिसका महत्व जितना ही अधिक समझा जाय उतना ही अच्छा है[2] कि वैदिक शब्दों के योगिक अर्थ लिये ... हृत हुए हैं उनके दो अर्थ ... दाहरणार्थ 'इंद्र' शब्द जो ... न अर्थों में प्रयुक्त होता है। ... प्रकाश ऐश्वर्य व तेजयुक्त ... के अधिकार में सांसारिक ... र के होते हैं जिसका अनुपम ... के प्रथम समुल्लास में इस विषय ... कार ने ऐसे बहुत से शब्दों

1. वेन्दिदाद फगर्द १८
2. इस विषय पर अधिक व्याख्या देखनी हो तो पं. गुरुदत्त कृत Terminology of the Vedas and European Scholars नामक पुस्तक पढ़िये।

शासकों के ध्यान देने योग्य हैं। ये धार्मिक नियमों की पूर्ति करती हैं जिनके द्वारा समाज की सचाई के क्षेत्र में वृद्धि होती है।"[1]

पारसी धर्म की अर्वाचीन पुस्तकों में भी इन चार वर्णों का वर्णन है। यद्यपि उनके नामों में पीछे परिवर्त्तन हो गया है उदाहरणार्थ नामा मिहाबाद में लिखा है–हे आबाद ! ईश्वर की इच्छा आबादियों के धर्म के विरुद्ध नहीं है। निम्नलिखित चार वर्णों में से जो कोई इस मार्ग पर चलेगा वह स्वर्ग पावेगा–होरिस्तान्, नूरिस्तारान्, सोरिस्तारान्, रोजिस्तारान्। पारसियों का सबसे पिछला धर्म-ग्रन्थ लेखक सामान पंचम उपर्युक्त कथन पर इस प्रकार टीका करता है :—

होरिस्तारान् को पहलवी में रथोर्नान[2] कहते हैं। वे पुरोहित हैं और इसलिये बनाये गये हैं कि धर्म की रक्षा करें; उसकी उन्नति और अन्वेषण करें और राज्य प्रबन्ध में सहायता दें।

नुरिस्तारान् को पहलवी में रथेस्तारान्[3] कहते हैं। वे राजा और योद्धा हैं और ऐसी योग्यता रखते हैं कि उन्हें मुखिया, सरदार, शासक तथा देश का प्रबन्धकर्ता नियुक्त किया जावे।

पोरिस्तारान् को पहलवी में वास्तरयोशान् कहते हैं। वे सब प्रकार की सेवा करते हैं।

रोज़िस्तारान् को पहलवी में होथथायन् कहते हैं। वे सब प्रकार के उद्यम और कृषि कार्य करते हैं। इन समुदायों के अतिरिक्त तुझे और कोई मनुष्य जाति न मिलेगी (अर्थात् इन चार वर्णों में समस्त मनुष्य जाति आ जाती है।)

आर्यों की चारों वर्णों की व्यवस्था से अभिज्ञ ऐसा कौन पुरुष हो सकता है जो पारसी ग्रन्थों में लिखित उपर्युक्त वर्ण-विभाग की उत्पत्ति वेदों से न माने।

इसी सम्बन्ध में यह कथन करना भी मनोरंज[illegible] ...क धर्म के अनुयायी द्विजों (अर्थात [illegible] ... के लिये

1. Zend A[illegible]
2. जन्द 'अथ्व[illegible] ... पहिले दिया जा चुक[illegible]
3 जन्द 'रथेस्त[illegible]

भी यज्ञोपवीत धारण करने का विधान किया गया है, जिसे वे 'कुश्ती' कहते हैं। हम वेन्दिदाद से निम्नलिखित प्रमाण देते हैं :—

"ज़रदुश्त ने अहुरमज़दा से पूछा– हे अहुरमज़दा ! किस अपराध के कारण अपराधी मृत्यु-दण्ड पाने के योग्य होता है ? अहुरमज़दा ने कहा— 'बुरे मत वा धर्म की शिक्षा देने से' हे स्पितामा ज़रदुश्त ! जो कोई तीन वसन्त ऋतुओं तक पवित्र सूत्र (कुश्ती) नहीं धारणा करता, गाथाओं का पाठ नहीं करता, पवित्र जल की प्रतिष्ठा नहीं करता इत्यादि।"[1]

पारसियों की किश्ती सातवें वर्ष में होती है। वैदिक धर्म में यज्ञोपवीत का समय आठवें वर्ष से आरम्भ होता है।

५—ईश्वर-संबन्धी विचार

ईश्वर के सम्बन्ध में वैदिक और ज़रदुश्ती शिक्षाओं में समानता दिखाने के पूर्व उन भ्रमों को दूर कर देना आवश्यकीय समझते हैं जो अब तक वेदोक्त ईश्वर के सम्बन्ध में फैल रहे हैं।

वेदों पर प्रायः यह दोष लगाया जाता है कि वे बहुदेवोपासना, तत्व पूजा और प्रकृति-पूजा आदि की शिक्षा देते हैं। यह दोषारोपण सर्वथा न्याय विरुद्ध है। इस भूल का कारण अग्नि, इंद्र, मित्र, वरुण आदि वैदिक शब्दों के दो भिन्न अर्थों का मिश्रित करना है। वैदिक निर्वचन का यह प्राचीन और सुनिश्चित सिद्धान्त है, जिसका महत्व जितना ही अधिक समझा जाय उतना हो अच्छा है[2] कि वैदिक शब्दों के योगिक अर्थ लिये जाने चाहिये। इस प्रकार वेदों में जो शब्द व्यवहृत हुए हैं उनके दो अर्थ होते हैं और कभी-कभी दो से भी अधिक। उदाहरणार्थ 'इंद्र' शब्द जो इदि ऐश्वर्ये धातु से निकला है कम से कम तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है। कभी उसके अर्थ सूर्य के होते हैं क्योंकि उसका प्रकाश ऐश्वर्य व तेजयुक्त होता है, कभी उसके अर्थ राजा के होते हैं जिसके अधिकार में सांसारिक ऐश्वर्य होता है और कभी-कभी उसके अर्थ ईश्वर के होते हैं जिसका अनुपम ऐश्वर्य है। स्वामी दयानन्द कृत सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम समुल्लास में इस विषय की पूर्ण व्याख्या की गई है। उसमें ग्रन्थकार ने ऐसे बहुत से शब्दों

1. वेन्दिदाद फगर्द १८
2. इस विषय पर अधिक व्याख्या देखनी हो तो पं. गुरुदत्त कृत Terminology of the Vedas and European Scholars नामक पुस्तक पढ़िये।

के यौगिक अर्थ देकर भलि भांति सिद्ध किया है कि जब वे शब्द उपासना के विषय से प्रयुक्त होते हैं तो उन सबसे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का ही बोध होता है। इन शब्दों में से कुछेक को उनके अर्थों सहित नीचे उद्घृत करते हैं :--

१—**इन्द्र**, (इदि, ऐश्वर्ये धातु से)
=(१) सूर्य, (२) राजा, (३) परमेश्वर।

२—**मित्र**, (मिद, स्नेहने धातु से)
=(२) सूर्य, (२) सखा, (३) सबका मित्र परमेश्वर।

३—**वरुण**, (वृ-वरणे' ईर्ष्यायाम् धातु से)
=(१) आकाश, (२) परमेश्वर जो महान् और सर्वोत्तम है।

४—**अग्नि**, (अंचु जतिपूजनयोः धातु से।
=(१) अग्नि या उष्णता जो शीघ्रतापूर्वक गमन करती है, (२) सर्वव्यापक और उपासनीय परमेश्वर।

५—**वायु**, (वा–गतिर्गंधनयोः धातु से)
=(१) हवा (२) परमेश्वर जो सबसे अधिक बलवान है।

६—**चन्द्र**, (चदि, आह्लादे धातु से)
=(१) ऐन्द्रमा जिसे देख आनन्दित होते हैं
(२) सर्वसुखों का दाता परमेश्वर।

७—**यम**, (यम उपरमे धातु से)
=(१) राजा, (२) सबका शासक।

८ **काल**, (कल संख्याने धातु से)
=(१) समय, (२) परमेश्वर जो सबकी गणना करता है।

९—**यज्ञ**, (यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु धातु से)
=(१) उपासना या आहुति देने की प्रक्रिया,
(२) परमेश्वर जो पूजा के योग्य है।

१०—**रुद्र**, (रुदिर् अश्रुविमोचने धातु से)
=(१) राजा जो दुष्टों को दमन करता है,
(२) ईश्वर जो दुष्टों को दंड देता है।

और भी शब्द हैं जो वेदों में साधारणतया ईश्वर के लिये प्रयुक्त होते हैं, परन्तु पाश्चात्य विद्वान् अपने हृदयों पर पुराणों की कथा, वर्तमान समय

के हिन्दुओं के मिथ्या भ्रम और मूर्ति पूजा का कुप्रभाव पड़ने के कारण बहुधा उन्हें विविध देवताओं के अर्थ में लेते हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव प्रसिद्ध शब्द इसी प्रकार के हैं जो हिन्दुओं के देवालय में तीन प्रधान देवताओं के लिये आते हैं। सुविज्ञ पाठकों को यह बताने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे विचार वेदों से सर्वथा बाहर हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती उपर्युक्त नामों की निम्न प्रकार व्युत्पत्ति और व्याख्या करते हैं :—

ब्रह्मा—(बृहि वृद्धौ धातु से) परमात्मा जो बड़ा है।
विष्णु—विष्—(विष्लृ व्याप्तौ धातु से) ईश्वर जो समस्त वस्तुओं में व्यापक है।
शिव—(शिव कल्याणे धातु से) ईश्वर जो सब भलाइयों का कारण है।
शंकर—का शब्दार्थ 'वह जो कल्याण करता है।'
महादेव—का शब्दार्थ 'देवों में बड़ा' है।
गणेश—का शब्दार्थ 'गणों का स्वामी' है।

ये समस्त शब्द एक ईश्वर का ही बोध कराते हैं। इस बात की पुष्टि देवों की आन्तरिक साक्षी होती है। हम यहाँ ऋग्वेद का मन्त्र उद्‌धृत करते हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः
स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्राः
बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानाहुः
ऋ० वे० मं० १ सू० १६४ मन्त्र ४६॥

उस एक अविनाशी ब्रह्म को जो दिव्य स्वरूप, उत्तम गुणों से युक्त परमात्मा है विद्वान् लोग बहुत से नामों से पुकारते हैं, जैसे इन्द्र (ऐश्वर्य युक्त), मित्र (सबका सखा), वरुण (सर्वोत्तम), अग्नि (सबका उपास्य), यम (सबका राजा), मातरिश्वा (सबसे बलवान्)

उसी वेद के स्थान में हम पाते हैं :—

सुपर्णं विप्रा कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
ऋ० मं० १० सू० ११३ मं० ५।

विद्वान और बुद्धिमान् पुरुष अनेक गुण-युक्त एक परमेश्वर की सत्ता को अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं।

१२

यजुर्वेद में फिर हम पढ़ते हैं :—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ।।

यजुर्वेद अध्याय ३२ मं० १ ।

"वह अग्नि (उपासनीय) है, वह आदित्य (नाश-रहित) है, वह वायु (अनन्त बल युक्त) है, वह चन्द्रमा (हर्ष का देने वाला) है, वह प्रजापति (सब प्राणियों का स्वामी) है।"

उपर्युक्त विचार की पुष्टि नीचे लिखी बाह्य साक्षी में भी होती है :—
कैवल्योपनिषद् में लिखा है :—

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रः स शिवः सोऽक्षरः स परमः स्वराट् ।
स इन्द्रः स कालाग्निः स चन्द्रमाः ।।

कैवलयोपनिषद्

वह ब्रह्म (महान्) है, वह विष्णु (सर्वव्यापक) है, वह रुद्र (दण्ड देने वाला) है, वह शिव (सब आनन्द और भलाइयों का मूल) है, वह अक्षर (अविनाशी) है, वह सबसे अधिक उच्च और सबसे अधिक दीप्तिमान है, वह इन्द्र (ऐश्वर्यवान्) है, वह कालाग्नि (पूजनीय और सबकी गणना करने वाला) है, वह चन्द्रमा (आनन्द का देने वाला) है।

फिर मनुस्मृति में लिखा है :—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ।।
एतमग्निं वदन्त्येके मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ।।

मनु० १२-१२२-१३

मनुष्य को चाहिये कि परमेश्वर को जाने, जो सबका शासक, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, प्रकाशयुक्त और ध्यान द्वारा जानने योग्य है। कोई उसे अग्नि (पूजा के योग्य), कोई मनु (मनस्वी), कोई प्रजापति (सब प्रजा का स्वामी) कहता है, कोई उसे इन्द्र (ऐश्वर्यवान्), कोई प्राण (जीवन मूल) और कोई उसे सनातन ब्रह्म कहता है।

इस विषय में भ्रम फैलाने का सबसे अधिक प्रभावपूर्ण कारण 'देव' या उससे निकले हुए देवता शब्द का अशुद्ध अर्थ है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'देव' शब्द के शुद्ध अर्थ और विद्वत्तापूर्ण व्याख्या करके सर्व साधारण को हलचल में डालने से पूर्व, जब कि यूरोप में संस्कृत के विद्वानों का यह ढंग था कि वे देवता शब्द का अर्थ सदैव "ईश्वर" किया करते थे, वेदों में बहुत सी वस्तुओं को देव या देवता के नाम से विशेषित किया है। इसलिये यह सहज ही में कल्पना करली गई कि वेद अनेक ईश्वरों में विश्वास रखने की शिक्षा देते हैं। समस्त संस्कृत साहित्य में अन्य किसी एक शब्द के अनुवाद ने इस सनातन और महान् धर्म के किसी महत्वपूर्ण विषय पर इतना भ्रम नहीं फैलाया जितना कि उपर्युक्त शब्द के अनुवाद ने।

देव शब्द दिव प्रकाशने[1] धातु से निकला है अतएव उसका अक्षरार्थ चमकीली या प्रकाशयुक्त वस्तु है और इसी कारण उसका गौण व रूढ़ि अर्थ वह वस्तु है जो दिव्य गुण रखती है। इसलिये सूर्य, चन्द्र और सृष्टि की अन्य शक्तियों अर्थात् अग्नि, वायु आदि के लिये देवता शब्द का प्रयोग किया गया है। हम यजुर्वेद में पढ़ते हैं :—

अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रो देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वे देवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता।

यजु० १४-१०

इस विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती के लेखों ने समस्त विचारों की काया पलट दी है। प्रो० मैक्समूलर अपने एक सबसे पिछले ग्रन्थ में अर्थात् India : What can it teach us ? में जिसमें स्वामी दयानन्द के विचारों का प्रभाव स्पष्ट रूप से झलक रहा हैं, स्वीकार करते है—"कोष हमें बतलाते हैं कि देव के अर्थ ईश्वर और देवताओं के हैं निस्संदेह ऐसा है भी, परन्तु यदि हम वेदों के मन्त्रों से देव शब्द का उल्था-सदैव (God)

---

1. दिव धातु के अति साधारण अर्थ चमकने के हैं परन्तु उसका प्रयोग 20 भिन्न अर्थों में होता है। व्याकरण के आचार्य पाणिनि जी कहते हैं :—

"दिक क्रीड़ा विजिगीषा व्यवहार द्युति स्तुति मोद मद स्वप्न कान्ति गतिषु," क्रीड़ा, विजय-कामना, व्यवहार, द्युति स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति, गति प्राप्त के अर्थों में दिव धातु व्यवहृत होता है।

परमेश्वर करें तो भाषान्तर न होकर वैदिक कवि के विचारों का रूपांतर करना होगा। प्रारम्भ में देव के अर्थ 'प्रकाशयुक्त' के थे। अतएव वह निरन्तर आकाश, नक्षत्र, सूर्य, उषा, दिन, वसन्त ऋतु, नदी और पृथ्वी के लिये प्रयुक्त होता था और जब कोई कवि सब वस्तुओं को एक शद में जिसे हम सामान्य संज्ञा कहते हैं, वर्णन करना चाहता था तो वह उन सबको देव कहता था।"[1]

वे फिर लिखते हैं—"हमें कभी नहीं भूलना चाहिये कि प्राचीन धार्मिक गाथाओं में जिन्हें हम देवता कहते हैं, वे वास्तविक और जीवित व्यक्ति न थे जिनके विषय में हम कह सकें कि वे ऐसे या वैसे थे। देव जिसका अनुवाद कि हमने 'ईश्वर' किया है केवल गुण वाचक संज्ञा है। वह ऐसे गुणों को प्रकट करता है जो अन्तरिक्ष और पृथ्वी में, सूर्य्य और नक्षत्रों में, उषा और समुद्र में समान है अर्थात् प्रकाश।"[2]

इसलिये हम प्राचीन ऋषियों को केवल इस कारण कि वे ऊपर लिखे भौतिक पदार्थों को देवता के नाम से विशेषित करते हैं बहु ईश्वरवादी अथवा प्रकृतिपूजक नहीं कर सकते। यदि हम ऐसा कहें तो उस मनुष्य को भी ऐसा ही कहना होगा जो सूर्य्य और चन्द्रमा को प्रकाशमुक्त कहता है अथवा प्रकाशयुक्त आकाश या चमकती हुई विजय आदि का वर्णन करता है।

यास्कमुनि जिनकी प्रामाणिकता वेद विषय पर सबसे अधिक मानी जाती है और जो वैदिक कोष (निघण्टु) और वैदिक निर्वचन शास्त्र (निरुक्त) के सुप्रसिद्ध कर्त्ता हुए हैं, देव शब्द की व्याख्या और भी अधिक विस्तृत अर्थों में करते हैं।

वह देव शब्द की इस प्रकार निरुक्ति करते हैं :—

देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो वा भवति।

निरुक्त ७। १५।

जो हमें किसी प्रकार का लाभ पहुंचाता है, जो वस्तुओं को प्रकाशित कर सकता है या उन पर प्रकाश डाल सकता है और जो प्रकाश का मूल स्रो (वा स्थान) है वह 'देव' है।

1. India : What can it teach us ? page 218.
2. Ibid p. 160.

अतएव देव शब्द और वस्तुओं के लिये प्रयुक्त होता है। हम यहाँ उसके कुछ विशेष अर्थों का उल्लेख करते हैं :—

(१) वह माता पिता के लिये व्यवहृत होता है क्योंकि वे हमको असीम लाभ पहुँचाते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में माता, पिता, आचार्य देव कहे गये हैं :—

मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्य्य देवो भव।

तै० उ० अनु० ११।

२—वह विद्वान् पुरुषों के लिये भी आता है क्योंकि अनेक आत्मा प्रकाशयुक्त होते हैं, और वे अनेक बातों पर प्रकाश डालते हैं। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है "विद्वान सो हि देवाः"— विद्वान् पुरुष देवता है।

३—उसका इन्द्रियों के लिये भी प्रयोग किया जाता है, क्योंकि उनके द्वारा भौतिक (दृश्यमान) जगत् का ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ यजुर्वेद में लिखा है—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद् देवा अप्नुवन् पूर्वमर्षत्।

यजु० अ० ४० मं० ४

परमेश्वर एक है वह गतिशील नहीं तथापि उसकी गति मन से भी अधिक है। यद्यपि यह पूर्व से ही इन्द्रियों में है तथापि इन्द्रियाँ (देव) उस तक नहीं पहुंच सकतीं। फिर मुण्डकोपनिषद् में (२।८) पढ़ते हैं :—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्येर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्ध सत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥

परमेश्वर नेत्र या वाणी अथवा अन्य इन्द्रियों (देवों) के द्वारा नहीं जाना जाता और न तप वा कर्मों से प्राप्त होता है प्रत्युत जो मनुष्य विशुद्ध भाव से उसका ध्यान करता है वह ज्ञान की शान्त ज्योति से उसका दर्शन करता है।

४—हमारे पाठकों में से बहुत से इस बात को जानते होंगे कि प्रत्येक वैदिक मंत्र का देवता होता है। यूरोपीय संस्कृत विद्वान् इससे उस देवता विशेष का अर्थ लेते हैं जिस मंत्र में सम्बोधित किया गया है। विविध मन्त्रों के विविध देवता होने के कारण यह कल्पना करली गई है कि वैदिक

ऋषि बहुत से देवताओं को पुजने और सम्बोधन करने वाले थे परन्तु यह बहुत बड़ी भूल है यास्कमुनि कहते हैं :—

अथातो दैवतं तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते । सैषा देवतोपपरीक्षा तत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मंत्रो भवति ॥

निरुक्त ७ । १

इसका यह भावार्थ है कि मंत्र के देवता से उस विषय का ग्रहण करना चाहिये जिसकी उसमें व्याख्या की गई है । "India : What can it teach us ?" नामक पुस्तक में जिससे हम पूर्व भी उदाहरण दे चुके हैं प्रो० मैक्समूलर स्वीकार करते हैं कि—"यदि हम उन वस्तुओं को जिनका वर्णन वैदिक मंत्रों में किया गया है देव या देवी कहते हैं तो हमें एक प्राचीन हिन्दू धर्मवेत्ता (प्रकट रूप से उनका अभिप्राय यास्कमुनि से है) की बात स्मरण रखनी चाहिये कि मंत्र के देवता से निर्वाचित विषय के अतिरिक्त और कुछ अभिप्राय नहीं है ।"[1]

देव शब्द परमेश्वर के लिये भी आता है, जो सब वस्तुओं का प्रकाशक, समस्त प्रकाश और ज्ञान का मूल स्रोत और उन सब वस्तुओं का प्रदाता है जिनका हम संसार में उपभोग करते हैं, परन्तु उसका अर्थ सदैव ईश्वर ही नहीं होता । वस्तुत: जैसा कि प्रोफेसर मैक्समूलर मानते हैं देव शब्द वस्तु वाचक नहीं प्रत्युत गुणवाचक है । अतएव इसका प्रयोग उन समस्त वस्तुओं के लिये हो सकता है जिसमें उसके निर्वाचित गुण पाये जाते हैं जैसे प्रकाश, लाभ पहुँचाना, चमकना अथवा किसी वस्तु पर प्रकाश डालना आदि ।

अब पाठकगण देख सकेंगे कि यदि पुराने आर्य्य लोग सूर्य, चन्द्र, आकाश, समुद्र, पृथ्वी, अन्तरिक्ष को देवता कहते थे तो इससे यह समझना चाहिए कि वे उन्हें ईश्वर मानते थे अथवा उनकी पूजा करते थे । ये सब तथा बहुत सी और भी वस्तुएँ ईश्वर के समान देवता के अर्थों के अन्तर्गत आ जाती हैं; परन्तु इन सब में से केवल एक ईश्वर ही पूजने के योग्य है । यजुर्वेद स्पष्ट रीति से कहता है :—

1 India : What can it teach us ? p. 147.

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।

यजुर्वेद ३१ । १८

हम उस परमात्मा को जानें जो पूर्ण प्रकाश स्वरूप और अन्धकार से परे है। केवल उसी का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त मुक्ति का दूसरा मार्ग नहीं है।

शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट और जोरदार शब्दों में बतलाया गया है :—

योऽन्यां देवतामुपासते न स वेद यथा पशुरेव स देवाम् ।।

शतपथ कां १४ अ० ४

जो किसी दूसरे देवता की पूजा करता है वह नहीं जानता, वह विद्वानों के मध्य पशुवत् है।

हम यहां ऋग्वेद से कुछ मंत्र उद्धृत करते हैं जिनसे प्रकट होगा कि वेद में कितनी स्पष्ट और युक्तिसंगत रीति से विशुद्ध और पूर्ण ईश्वरवाद की शिक्षा दी गई है :—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। १ ।।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। २ ।।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। ३ ।।

यस्येम हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। ४ ।।

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। ५ ।।

यं क्रन्दसी अवसातस्तभाने अभ्यैक्षतां मनसा रेजमाने ।
यत्राधिसूर उदिता विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। ६ ।।

आपोह यद् वृहतोविश्वमायन् गर्भदधानः जनयन्तीरग्निम् ।
ततो देवानां समवर्त्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। ७ ।।

य श्चदापो महिनापर्य पश्यद् दक्षं दधानाः जनयन्तीर्यज्ञम् ।
यो देवानामधिदेव एक आसीत कस्मै देवा हविषा विधेम ।। ८ ।।

मानोर्हिसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवम् सत्यधर्मा जजान ।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। ६ ।।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विद्म जातानि परिता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयोरयीणाम् ।।१०।।

ऋ० वे० मं० १० सू० १२ मं० १—१० ।

आरम्भ काल में ईश्वर था जो प्रकाश का मूल है । अखिल विश्व का वही एक स्वामी था । उसी ने पृथ्वी और आकाश को स्थिर कर रक्खा था । वही है जिसकी हमें प्रार्थना करनी चाहिये ।

जो आत्मिक ज्ञान और बल का देने वाला है, संसार जिसकी पूजा करता है, जिसकी आज्ञा का पालन सब विद्वान लोग करते हैं, जिसकी शरण (छाया) अमरत्व है, जिसकी छाया से दूर रहना मृत्यु है उसी देव की हम उपासना करें ।

जो अपनी महत्ता के कारण इस चराचर जगत् का एकमात्र राजा है, जो दुपाये और चौपायों का उत्पादक और स्वामी है उसी देव की हम उपासना करें ।

हिमवान पर्वत और जल से भरे समुद्र जिसके महत्व की घोषणा करते हैं, ये दिशाएँ जिसकी भुजा हैं, उसी देव की उपासना करें ।

जिसने इतने बड़े आकाश को धारण किया हुआ हैं, और पृथ्वी को अचल कर रक्खा है, जिसके द्वारा स्वर्ग और मोक्ष स्थित हैं, जो समस्त अन्तरिक्ष में अपने आत्मबल से व्याप्त है, उसी देव कि हम उपासना करें ।

जिसकी ओर पृथ्वी और अन्तरिक्ष देखते हैं क्योंकि वे उसी की रक्षा में स्थित और उसी की इच्छा से परिचलित होते हैं जिसमें सूर्य उदय होता और चमकता है उसी देव की हम उपासना करें ।

जिस समय इस विस्तृत प्रकृति वा उपादान कारण ने जो अग्नि की दशा में था तथा जो विश्व को अपने गर्भ में धारण किये था—अपने आपको प्रगट

किया उस समय वही समस्त प्रकाशवान् पदार्थों (देवों) का जीवन था उसी देव की हम उपासना करें।

जिससे अपनी महत्ता से उस फैले हुए उपादान कारण को जिसमें उष्णता और[1] शक्ति धारण की हुई थी और जिससे यह सृष्टि प्रादुर्भूत हो रही थी, जो समस्त प्रकाशयुक्त पदार्थों (देवों) का एकमात्र अधिदेव है उसी देव की हम उपासना करें।

जो पृथ्वी का उत्पादक है और जिस सत्य नियम वाले ने आकाश को भी पैदा किया है और जिसने विस्तृत और प्रकाशमुक्त उपादान का प्रादुर्भाव किया है, वह हमें दु:ख न पहुँचावे उसी देव की हम उपासना करें।

हे विश्व के स्वामी! तेरे अतिरिक्त इन उत्पन्न हुए पदार्थों को वश में रख कर शासित करने वाला कोई दूसरा नहीं है। जिन वस्तुओं की कामना में हम तेरी उपासना करते हैं वह हमारी हों और हम संसार के समस्त उत्तम पदार्थों के स्वामी हों।

इन दस मंत्रों के सूक्त में 'एक' शब्द चार बार से कम व्यवहृत नहीं हुआ। यदि पाठकगण ईश्वर के अद्वितीय होने में इससे अधिक स्पष्ट, असंदिग्ध, सुन्दर और प्रौढ़ वर्णन की खोज दूसरे धर्म ग्रन्थों में करेंगे तो खोज निष्फल होगी।

जब कभी वेदों या उपनिषदों के एक या दो वाक्य जिसमें ईश्वर एकत्व का वर्णन होता है, पाश्चात्य विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किये जाते हैं तो वे

---

1. इस मत्र और इससे पहले मंत्र में विश्व की प्रकीर्णावस्था की ओर संकेत है। हम इस विषय पर आगे चलकर विचार करेंगे। (देखो इस अध्याय का अंश, ७—सृष्टि उत्पत्ति। 'आप' शब्द 'आप्लृ' धातु से निकला है जिसके अर्थ व्यापक होना या फैलना है। अतएव हमने इसके अर्थ फैले हुए उपादानकारण वा प्राकृति के लिए हैं। 'दक्षदधान' उष्णता और शक्ति रखने वाला तथा 'जनयन्तीर्यज्ञम' सृष्टि उत्पन्न करने वाले ये वाक्य जो मंत्र में आये हैं और 'गर्भ दधान:' विश्व को अपने गर्भ में धारण करने वाला, और जनयन्तीरग्निम' अग्नि या आग्नेयावस्था को पैदा करने वाला जो वाक्य इससे पूर्व के मन्त्र में आये हैं। इनसे स्पष्ट प्रकट है कि 'आप' से यहाँ जल का अभिप्राय नहीं प्रत्युत उपादानकारण प्रकृति से है, जो सृष्टि से है, जो सृष्टि से पूर्व परमाणुरूप से फैल रही है। (जल को भी 'आप' इसी कारण कहते हैं कि उसमें फैलने का गुण है)।

झट कह उठते हैं[1] कि ये 'अद्वैतवाद' की शिक्षा देते हैं, ईश्वरवाद की नहीं और इनका अर्थ यह है कि केवल एक ईश्वर है दूसरी कोई वस्तु नहीं, यह नहीं है कि परमेश्वर एक है दूसरा परमेश्वर नहीं अर्थात् ऐसे वाक्यों का अभिप्राय अद्वैतवाद परक है। एक ईश्वरवाद परक नहीं। हमें खेद है कि ग्रन्थ के प्रकृत विषय से हम अधिक दूर नहीं जा सकते। हम इस बात का निर्णय पाठकों के ऊपर छोड़ते हैं कि इन मंत्रों को जिनमें परमेश्वर को विश्व का विधाता और स्थिर रखने वाला, समस्त विश्व का एकमात्र राजा, स्वर्ग को व्यवस्थित रखने वाला, अमरत्व का प्रदान करने वाला और हमारी पूजा के योग्य वर्णन किया है, किसी प्रकार भी अद्वैतवाद की शिक्षा देने वाला समझा जा सकता है? अब हम अथर्ववेद के कुछेक मन्त्रों को प्रो० मैक्समूलर के भाष्य सहित नीचे उद्धृत करते हैं :--

बृहन्नेषामाधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति ।
यस्तायन् मन्यते चरन् सर्वं देवा इदं विदुः ॥ १ ॥

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति योनिलायम् चरति यः प्रतङ्कम् ।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥ २ ॥

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ उतासौ द्यौर्बृहती दूरे अन्ता ।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः ॥ ३ ॥

उत यो द्यामतिसर्पात परस्तान्न समुच्यातै वरुणस्य राज्ञः ।
दिवस्पशः प्रचरन्ति दमस्य सहस्राक्षा अतिपश्यन्ति भूमिम् ॥ ४ ॥

सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत् परस्तात् ।
संख्याता अस्य निमिषो जनाना मक्षानिवस्वघ्नी निमिनोति तानि ॥ ५ ॥

1. उदाहरणार्थ मि. जे. मरडक Mr. J. Murdoch अपनी वैदिक हिन्दूइज्म (रिलीजन रिफ़ार्म सीरीज, तृतीय भाग) में कहते हैं :—"अद्वैतवाद और बहु-ईश्वरवाद की शिक्षा का कभी कभी संमिश्रण कर दिया जाता है, परन्तु यथार्थ में एक ईश्वर की पूजा हिन्दू धर्म में नहीं पायी जाती। छान्दोग्य के 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' (ईश्वर एक है बिना एक दूसरे के) वाक्य को केशव चन्द्र सेन ने ग्रहण कर लिया था परन्तु इसके यह अर्थ नहीं हैं कि कोई दूसरा ईश्वर नहीं है। प्रत्युत ये है कि अन्य दूसरी वस्तु नहीं है, जो सर्वथा भिन्न सिद्धान्त है।"

ये ते पाशा वरुण सप्त सप्त त्रेधा तिष्ठंति विषितारु संत।
छिनन्तु सर्वे सनृतम् वदन्तः यः सत्य वाग्यति त सृजंतु॥ ६॥
—अथर्व कां० ४ सू० १६॥

इन सबका अधिष्ठाता वरुण* ऐसे देख रहा है, मानो वह समीप है, यदि कोई मनुष्य खड़ा होता है, चलता है, छिपता है, या लेटने को जाता है, वा उठता है या दो मनुष्य परस्पर कानाफूसी या मन्त्रणा करते हैं तो राजा वरुण उसे जानता है, वह तीसरा वहाँ उपस्थित है। १—२।

यह पृथिवी तथा विस्तृत आकाश जिसके सिरे बहुत दूर हैं राजा वरुण के अधिकार में है। दोनों समुद्र (आकाश और समुद्र) वरुण की कुक्षी हैं और वह पानी के इस छोटे से बिन्दु में भी व्याप्त हैं।

यदि कोई पुरुष आकाश से भी बहुत परे भाग जाय तो भी वह राजा वरुण से नहीं बच सकता। ३।

उसके गुप्तचर आकाश से संसार की ओर आते हैं और सहस्रों नेत्रों से इस पृथ्वी पर दृष्टिपात करते हैं। ४।

राजा वरुण उन सबको देखता हैं जो आकाश और पृथिवी के मध्य में हैं। आकाश इनसे भी परे है। उसने मनुष्यों के नेत्रों के पलक मारने की भी गणना करली है। खिलाड़ी के पांसा फेंकने के समान उसने समस्त वस्तुओं को अखण्ड रूप से स्थित कर रखा है। ५।

हे वरुण! तेरे भयानक पाश जो सात-सात और तीन-तीन करके फैले हुये हैं मिथ्यावादियों को फांस लें और सत्य बोलने वालों को छोड़ देवें।६।

अब यह स्पष्ट हो गया कि वेद विशुद्ध और पूर्ण एक ईश्वरवाद की शिक्षा देते हैं जो अद्वैतवाद के सिद्धान्त से उतनी ही भिन्न है जितनी वह ईश्वर के मानने वाले दूसरे धर्मों (विशेषतः सैमीटिक Semitic अर्थात् यहूदी, ईसाई और मुहम्मदी मतो) के ईश्वरवाद से। यहाँ हम इस बात को दिखलावेंगे कि जब ईश्वर संबंधी वेदों का ज्ञान एक मत से दूसरे मत में गया तो उसकी अवनति ही हुई, उन्नति नहीं। जैसी उसकी शिक्षा वेदों में दी गई वह उतनी उत्कृष्ट और पूर्ण है जितना मानवीय बुद्धि के लिये सोचना या समझना संभव है। जिंदावस्ता में उस Anthropomorphism ईश्वर को मनुष्य के से गुण और स्वभाव वाला समझने की कुछ रंगत चढ़

* ईश्वर के नामों में से एक नाम जिसका अर्थ—महान् और सर्वोत्तम है।

जाती है। हम देखते हैं कि अहुरमज़दा सतज़रदुश्त से बातें और परामर्श करता है। इंजील और कुरान में वह सर्वथा मनुष्य के गुण को धारण कर लेता है और परमेश्वर का इस प्रकार वर्णन किया जाता है कि मानो वह एक स्वेच्छाचारी सम्राट् है, जो मनुष्य के सभी भाव और विचार, त्रुटि और दूषणों के वशीभूत है। बाइबिल में हम ठण्ड के समय ईश्वर को 'अदन के बाग़ में टहलता हुआ' पाते हैं। वह 'आदम को पुकारता' है, जो उसकी पुकार को सुनता है। फिर वह आदम और हौवा को अपनी आज्ञा का उल्लंघन करने के लिये धिक्कारता तथा शाप देता है। हम उसको पश्चात्ताप करता हुआ पाते हैं कि उसने पृथ्वी पर मनुष्य को क्यों बनाया और इससे उसे हार्दिक दुःख पहुँचा। वह क्रोधपूर्वक कहता है कि मैं मनुष्य और पशु, रेंगने वाले जन्तु और हवा में उड़ने वाले पक्षियों को नष्ट कर दूंगा क्योंकि इस बात से मुझे पश्चाताप होता है कि मैंने उन्हें बनाया'। और वह अपने असहाय जीवों पर जल-प्रलय भेजता है; परन्तु दूरदर्शिता के विचार से कि कहीं ऐसा न हो कि सबको नष्ट करके मुझे फिर पश्चाताप करना पड़े, वह नूह और उसके परिवार को बचा रखता है तथा उसे अपनी नाव में प्रत्येक प्रकार के जानवरों का एक जोड़ा रखने की आज्ञा देता है। जब जल बाढ़ समाप्त हो जाती है तो नूह उसके लिये अग्नि में आहुति देता है और ईश्वर सुगन्धि सूंघता है' और अब पूर्वापेक्षा अधिक शान्त अवस्था में होने के कारण अपने किये पर प्रकट रूप से पश्चाताप करता हुआ कहता है :—

मनुष्य के लिये फिर मैं कभी पृथ्वी को न धिक्कारूँगा ! क्योंकि मनुष्य के हृदय की कल्पना लड़कपन के कारण बुरी होती है (मानो वह पूर्व इस बात से अभिज्ञ ही न था) और जैसा कि मैंने कहा है फिर प्रत्येक जीवधारी को नष्ट करूंगा[1]।'

यह चित्र है जो बाइबल में ईश्वर का खींचा गया है। कुरान इस दुर्गति की जो बाइबिल में ईश्वर की हुई है और भी अधोगति कर देता है। उसमें ईश्वर की तसवीर इस ढंग की खींची गई है मानों वह एक बिलकुल स्वेच्छाचारी सम्राट है और वह भी अच्छे स्वभाव का नहीं। वह उस सिंहासन पर बैठता है जिसे अर्श मुअल्ला पर आठ फ़रिश्ते धारण किये हुए हैं[2]। वह काफ़िरों को शाप देता[3] तथा उनसे युद्ध ठानता है और अपने

1. देखो बाइबिल उत्पत्ति की पुस्तक अ. ४, आयत ८-९, १४-१९। अ. ६, आयत ६, ७, १३-२२। अ. ८, आ. २१
2. कुरान अध्याय ६९
3. कुरान अध्याय २

अनुयायियों को भी वैसा ही करने का आदेश देता है[1]। वह ऐसी कड़ी शपथें खाता है जिनको खाना अपनी प्रतिष्ठा का विचार रखने वाले बहुत ही कम लोग पसन्द करेंगे[2]। वह अपने आपको 'मारकर' कहने तक में नहीं हिचकता[3]। जिस प्रकार उसकी शक्ति असीम है वैसे ही उसकी महान् स्वेच्छाचारिता भी अत्यन्त है। कुरान कहता है—ईश्वर जिसे चाहता है बुरे मार्ग की ओर ले जाता है और जिसे चाहता है उसे सतपथ की ओर प्रेरित करता है[4]।'

दूसरा दोष जिससे वैदिक ईश्वरवाद सर्वथा मुक्त है और जो ज़न्दावस्था इंजील व कुरान के ईश्वरवाद पर धब्बा लगाता है, प्रथम अध्याय में वर्णित किया जा चुका है, अर्थात् शैतान के व्यक्तित्व की शिक्षा। चतुर्थ अध्याय के चौथे अंश में हम सिद्ध कर चुके हैं कि वह सिद्धान्त वेदों के एक अलंकार को ठीक न समझ कर निकाला गया है जिसमें उस संग्राम का वर्णन किया गया है जो संसार में प्रकाश और अंधकार के बीच और भलाई और बुराई के बीच सदा होता रहता है। जन्दावस्ता में शैतान के लिये पुरुषाभावरोपण का विचार अपूर्ण है। उस ज़न्दावस्ता में **'आकममनो'** (बुरा विचार) अगरामन्यु (अग्नेय या हानिकारक मन) अज्हिदहक जलता हुआ साँप कहा गया है, परन्तु इंजील और कुरान में उसका व्यक्तित्व उतना ही वास्तविक हो जाता है जितना कि स्वयम् परमेश्वर का, यहां तक कि यह भौतिक रूप धारण कर लेता है और साप[5] के रूप में मानव जाति के आदिकालीन माता पिता को छलकर उनसे ईश्वराज्ञा का उल्लंघन कराता है और इस प्रकार संसार में पाप का बीज बोता है जिसका परिणाम यह होता है कि आदम और हव्वा उस स्वर्ग से बाहर कर दिये जाते हैं जो ईश्वर ने उनके लिये रचा था[6]। वह ईश्वर के पुत्र और अवतार ईसामसीह तक को प्रलोभन देता है[7]।

हम देखते हैं कि इंजील, कुरान और बाइबिल में जाने से वेदोक्त ईश्वरवाद में पवित्रता और उत्कृष्ठता की न्यूनता ही हुई है, अधिकता नहीं

१. कुरान अध्याय ४७
२. कुरान अध्याय ३७, अ० ४२, अ० ७९, अ० ९१
३. कुरान अध्याय ८
४. कुरान अध्याय ६
५. उत्पत्ति का पुस्तक अध्याय ३, १
६. वही पुस्तक अ० ३, २३—२४
७. मत्ती की इंजील अ० ४, १—११

और जो कुछ यहां ईश्वर के सम्बन्ध में कथन किया गया है वह धर्म के अन्य महत्वपूर्ण विचारों के सम्बन्ध में भी यथार्थ है, क्योंकि परमेश्वर का विचार उन चारों मतों का मूल सिद्धान्त है जिनके विषय में हम यहां लिख रहे हैं। धर्म रूपी नदी की धार अपने उद्गम स्थान के निकट स्वच्छ होती है, जहां वह आकाश से गिरने वाले अत्यन्त श्वेत हिम से निकलती है। परन्तु जब वह नीचे आकर घाटियों और मैदानों में बहती है जहाँ उसमें किनारों की ज़मीन से आने वाला पानी मिल जाता है तो वह क्रमश: सर्वोत्तम प्रारम्भिक पवित्रता को खो बैठती है। उसके न्यूनाधिक गंदले पानी से भी प्यासों के सूखे होठ शीतलता का आस्वादन करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य के लिये बिलकुल जल न मिलने की अपेक्षा ऐसा जल प्राप्त हो जाना भी उत्तम है। परन्तु क्या इस मैले जल की उस विशुद्ध निर्मल जल से तुलना हो सकती है जो आकाश से गिरे हुये हिम से बिना पार्थिव परमाणुओं के मल से, निकल कर बहता है! ईश्वर ऐसा करे कि हम उस स्रोत के समीप पहुँचें और अपनी आत्मिक तृष्णा बुझाने के लिये उसके स्वर्गीय जल का पान करें। तथास्तु!

ऊपर के लेख से पाठकों को ईश्वर सम्बन्धी वैदिक शिक्षा का कुछ ज्ञान होगा। चतुर्थ अध्याय में यह दिखाया गया है कि ईश्वर के सम्बन्ध में ज़रदुस्त का क्या विचार था। पाठक सुगमता से देख लेंगे कि (उपर्युक्त दो दूषणों को छोड़कर) अहुरमज़दा का विचार वेदोक्त परमेश्वर के विचार से पूरी समानता रखता है। केवल दोनों में ही समानता हो सो बात नहीं प्रत्युत वेदों में जो नाम ईश्वर के लिए प्रत्युक्त हुए हैं उनमें से बहुत से शब्द ज़न्दावस्ता में भी व्यवहृत हुए हैं। स्वयं अहुरमज़दा शब्द ही ऐसा है जो अवस्ता में ईश्वर के लिये अनेक बार आया है। यह शब्द वैदिक असुरमेध से समानता रखता है। इसी प्रकार के निम्नलिखित शब्द भी हैं :—

संस्कृत	ज़न्द
अर्य्यमन्	ऐर्यमन्
मित्र	मिथ्र
नाराशंस	निर्योसंह
वृत्रहन्	वृत्रघन्
भग्	बघ

* इसी अध्याय के अंश १ में असुर शब्द पर फुटनोट देखो।

इससे भी अधिक आश्चर्ययुक्त यह बात है कि इनमें से अधिकतर शब्द ऐसे हैं जो ज़न्दावस्ता में भी उन्हीं दो अर्थों में व्यहृत हुए हैं जिनमें कि वे वेदों में आये हैं। हम 'अर्यमन' शब्द के सम्बन्ध में डॉ. हॉग के लेख को उद्धृत करते हैं :—

"दोनों धर्मों के ग्रन्थों में 'अर्यमन्' दो अर्थों का बोधक है। (१) मित्र और साथी····और (२) एक देव या आत्मा का नाम (जिसे हमको ईश्वर या परमात्मा कहना चाहिये) जो विशेषतः विवाह का देवता है और उस अवसर पर ब्राह्मण तथा पारसी दोनों ही आह्वान करते हैं।"[1]

ज़न्द में मिथ्र शब्द उन्हीं तीनों अर्थों में आता है जिनमें 'मित्र' शब्द वेदों में व्यहृत हुआ है, अर्थात् 'सूर्य, सहायक और ईश्वर'। फ़ारसी का 'मिहिर' शब्द अब भी पूर्वोक्त दो अर्थों में प्रयुक्त होता है।

भग (ज़न्द-बध) ईश्वर और भाग्य इन दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। वृत्रहन के भी दो अर्थ हैं अर्थात् (१) बुराई को नष्ट करने वाला ईश्वर और (२) अन्धकार को छिन्न-भिन्न करने वाला सूर्य्य।

नाराशंस के सम्बन्ध में डाक्टर हॉग कहते हैं :—नाराशंस (देखो यास्क निरुक्त ८. ६) और नर्योसिंह एक ही है। नरयोसंह ज़न्दावस्ता में एक देव-दूत का नाम है जो अहुरमजदा के सन्देशवाहक का कार्य करता है, (देखो वेन्दिदाद २२)। वेद मन्त्रों में इसी पद पर अग्नि और पूषण को पाते हैं। इस शब्द के अर्थ हैं "जो मनुष्यों से प्रसंशा किया गया हो" अर्थात् प्रसिद्ध नाराशंस (१) ईश्वर और (२) अग्नि इन अर्थों में आता है। पिछले अर्थ में नाराशंस या निर्योसिंह दिव्य संदेशवाहक या दूत[2] कहता है। क्योंकि अग्नि या अधिक समुचित शब्दों में उष्णता द्वारा जल वाष्प और अन्य पदार्थों के रस एक स्थान से दूसरे को जाते हैं। इसलिये अग्नि या उष्णता का प्रकृति या उसके स्वामी ईश्वर का दूत कह सकते हैं।

६ · ३३ देवता

हमारे कुछेक पाठकों ने वेदों के ३३ देवताओं के सम्बन्ध में सुना होगा कि जब भरतवर्ष में अवनत होते हुये वैदिक धर्म ने बहु-ईश्वरवाद का

1. देखो Haug's Easays, p. 273 (जो शब्द कोष्टक में हैं वे हमारे हैं)।
2. देखो यजुर्वेद २३, १७ जिसमें अग्नि या गरमी को दूत कहा गया है— अग्नि दूत पुरोदधे हव्यवासुपब्रुवे। देवान् आसादयादिह यजु. २३। १६।

स्वरूप धारण कर लिया तो कदाचित् ये ३३ देवता ही बढ़ते-बढ़ते हिन्दू देवालय के ३३ कोटि देवता बन गये। वेदों के ३३ देवता क्या थे? क्या वे ईश्वर थे? कदापि नहीं। पण्डित गुरुदत्त की Terminology of the Vedas नामक पुस्तक में जो इस विषय की व्याख्या की गई है वह इतनी स्पष्ट और सुन्दर हैं कि हम उसका विस्तारपूर्वक यहाँ अनुवाद देते हुये क्षमा-याचना की आवश्यकता नहीं समझते।

हम देख चुके हैं कि यास्क मुनि उन चीज़ों के नामों को (मंत्रों का) देवता कहते हैं, जिनके गुण मंत्रों में वर्णित हैं तो फिर देवता क्या पदार्थ हैं? वे समस्त वस्तुएँ जो मानवी ज्ञान का विषय हो सकती हैं, मष्नुय का सारा ज्ञान देश और काल इन दो बातों से घिरा हुआ है। हमारी कारण-कार्य्य-अभिज्ञता विशेषतः घटनाओं का क्रम, यह क्रम क्या है? केवल समय में घटनाओं का नियम से संगठित होना। फिर हमारा ज्ञान किसी वस्तु का ज्ञान होना चाहिये उस वस्तु के लिये किसी स्थान का होना आवश्यकीय है। इन प्रकार हमारे ज्ञान की परिस्थिति देश और काल हैं। अब ज्ञान के आवश्यकीय अंगों के सम्बन्ध में विचार करते हैं। ज्ञान के सबसे अधिक विस्तृत भेद आन्तरिक और बाह्य हैं। जो कुछ मनुष्य देह के बाहर घटित होता है उसका ज्ञान बाह्य ज्ञान कहाता है। यह दृश्य मान् जगत के विभव का ज्ञान है विज्ञानवेत्ता लोग इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि प्राकृतिक विज्ञान अर्थात् भौतिक जगत् का विज्ञान दो वस्तुओं के अस्तित्व को प्रकट करता है (१) प्रकृति वा उपादान कारण और (२) शक्ति। उपादान कारण का हमें स्वयंमेव बोध नहीं होता। हम प्रकृति में केवल शक्ति के प्रकाश को देखते हैं जिनसे, प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। इस प्रकार बाह्य जगत् का ज्ञान शक्ति और उसके परिवर्त्तनों का ज्ञान रह जाता है। अब हम आन्तरिक ज्ञान की ओर आते हैं, आन्तरिक ज्ञान का उल्लेख करने में सब से पूर्व मनुष्य को आत्मा जो चेतन सत्त है, दूसरे आन्तरिक भाव जिनका माननीय आत्मा को ज्ञान होता है। आन्तरिक भाव दो प्रकार के हैं। वे या तो आत्मा के स्वाधीन और ज्ञात कर्म वा ऐसे में जिनका उसे स्वयम् ज्ञान होता है और इसलिए जिन्हें हम चेष्टित कर्म कह सकते हैं, अथवा शरीर के ऐसे कर्म हैं जो आत्मा के शरीर में उपस्थित रहने से प्रादुर्भूत होते हैं। अतएव उन्हें हम जोवन-संबन्धी कर्म व प्राण नाम से पुकार सकते हैं।

इसलिए ज्ञेय पदार्थों का (a priori) विश्लेषण हमें ६ बातों की ओर ले जाता है, काल, देश, शक्ति, आत्मा, प्राण और चेष्टित कमं। ये वस्तुएँ

देवता कहाने योग्य हैं। उपर्युक्त गणना से हमें यह परिणाम निकालना चाहिये कि निरुक्त में लिखा हुआ वैदिक देवताओं का ज्ञान यदि वास्तव में सत्य है तो हमें वेदों में काल, देश, शक्ति, आत्मा, प्राण और चेष्टित कर्म इन छः बातों का देवताओं के रूप में समावेश मिलना चाहिए अन्य किसी को नहीं। आइये, कसौटी से परीक्षा करें :—

नीचे लिखे मन्त्रों में हम ३३ देवता का वर्णन पाते हैं :—

त्रयस्त्रिंशतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ट्याधिपति - रासीत्।
यजुर्वेद १४। ३१

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्राविभेजिरे। तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवा नके ब्रह्मविदो विदुः। अथर्व० १६। ४। २७

सबका स्वामी, विश्व का नियंता, सबको स्थिर रखने वाला ३३ देवताओं द्वारा सब वस्तुओं को ग्रहण किये हुए हैं ॥१॥ सच्ची ब्रह्मविद्या को जानने वाले ३३ देवताओं को मानते हैं जो अपने-अपने कर्मों को यथाविधि करते हैं।

अब हम विचार करते हैं कि ये ३३ क्या हैं, जिससे हम अपनी पूर्व विवेचना से तुलना कर सकें और इस समस्या की पूर्ति कर सकें।

शतपथ ब्राह्मण में लिखा है :—

सहोवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवाइति। कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्ता एक-त्रिंशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ॥३॥ कतमे वसव इति। अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदं सर्वं वसुहितमेते हीदँ सर्वं वासयन्ते तद्यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति ॥४॥

कतमे रुद्रा इति। दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशते यदास्मान् मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति मस्माद्रुद्रा इति ॥५।

कतम आदित्या इति। द्वादश मासाः संवत्सरस्यैयता एते हीदं सर्वमाददानायन्ति तद्यदिदं सर्वं ँ माददानायन्ति तस्मादादित्य इति ॥६॥

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति । स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति । कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति ।।७।।

कतमे ते त्रया तेवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति करमौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चैति । कतमौ अध्यर्ध योऽयं पवते ।।८।।

तदाहुः यदयमेक एव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निदं सर्व-मध्याध्नोंत्तेनाध्यर्धं इति । कतम एको देव इति स ब्रह्मेत्य दित्याचक्षते शतपथ पृ० १४, १६

(देखो स्वामी दयानन्द सरस्वती की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ ६६)

उपर्युक्त वचनों का अर्थ है कि याज्ञवल्क्य शाकल्य से कहते हैं—कि ये ३३ देवता परमेश्वर की महिमा का प्रकाश करते हैं । ८ वसु, १२ आदित्य, ११ रुद्र, इन्द्र और प्रजापति मिलकर सब ३३ हुये । ८ वसु ये हैं :—

अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा, शरीर और नक्षत्र । ये वसु इसलिये कहाते हैं कि सब पदार्थ इन्हीं में बसते हैं और समस्त जीवित, गतिशील और सत्तात्मक पदार्थों के निवास स्थान हैं ।

रुद्र ११ हैं । १० प्राण जो मनुष्य की देह को जीवित रखते हैं और ग्यारहवाँ आत्मा ये रुद्र कहलाते हैं क्योंकि जब वह शरीर का त्याग करते हैं तो वह मृतक हो जाता है और मृतक के सम्बन्धी प्राण निकल जाने के कारण रोते हैं । २१ आदित्य २२ सौर्य मास हैं जो समय की गति का परिणाम बताते हैं उन्हें आदित्य इसलिये कहते हैं कि वे अपनी गति से समस्त पदार्थों में परिवर्त्तन कर देते हैं और इसीलिए उनके द्वारा प्रत्येक वस्तु की अवधि की समाप्ति करते हैं । यह सर्वव्यापक विद्युत या शक्ति का नाम है । प्रजापति यज्ञ है (अर्थात् मनुष्य का विविध पदार्थों को शिल्प-कला सम्बन्धी उद्देश्य-पूर्ति के लिये इच्छा पूर्वक एकत्र करना अथवा अन्य पुरुषों के साथ अध्ययन वा अध्यापन ले लिये सहयोग करना) उसके अर्थ **पशु** (उपयोगी जानवरों) के भी हैं । यज्ञ और उपयोगी पशु प्रजापति इसलिये कहाते हैं कि ऐसे कार्यों और पशुओं से ही संसार साधारणतया

अपनी स्थिति की सामग्री ग्रहण करता है। शाकल्य ऋषि पूछते हैं कि ३ देवता कौन से हैं? याज्ञवल्क्यजी उत्तर देते हैं कि वे तीन लोक हैं (अर्थात् स्थान, नाम और जन्म)। उन्होंने पूछा कि दो कौन से हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा कि प्राण (संयोजक पदार्थ) और अन्न (विभाजक पदार्थ)। वह पूछते हैं कि अध्यर्द्ध क्या है? याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि वह विश्व की पालन करने वाली विद्युत है जो संसार की स्थिति स्थिर रखती तथा सूत्रात्मा कहाती है। अन्त में उन्होंने पूछा कि देव कौन सा है? याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि एक उपासनीय परमेश्वर हैं।

इन ३३ देवताओं का वेदों में वर्णन है। अब हमें यह देखना चाहिये कि यह व्याख्या हमारी पूर्वकृत विवेचना से कहाँ तक मिलती है। शतपथ के गिनाये हुए ८ वसु स्पष्ट रूप से स्थानों (वा देश) के नाम हैं। ११ रुद्रों में प्रथम आत्मा है और दूसरे १० प्राण हैं, १२ आदित्यों में काल आ जाता है। विद्युत वह शक्ति है जो सब में व्याप्त है और प्रजापति (पशु और यज्ञ) में हम साधारण दृष्टि से आत्मा चेष्टित कर्मों को सम्मिलित मान सकते हैं।

इस प्रकार ३३ देवता हमारी स्थूल विवेचना के ६ तत्त्वों से मिल जाते हैं; क्योंकि यहाँ विस्तार की यथार्थता दिखाने से हमारा अभिप्राय नहीं है जितना साधारण समानताओं का दिखाना इष्ट है। अतएव आंशिक भेद त्यागा जा सकता है।*

डाक्टर हॉग कहते हैं "वेदों के इन ३३ देवताओं की ज़न्दावस्ता (यास १।३०) के ३३ रतुओं से तुलना की जा सकती है। एक और स्थान पर डा० हॉग लिखते हैं कि "वेद और ज़न्दावस्ता के देवताओं की गणना से सम्बन्ध में अत्यन्त आश्चर्यजनक समानता पाई जाती है।"※

ज़न्दावस्ता से प्रकट नहीं होता कि पारसी लोग ३३ देवताओं के यथार्थ्थ को जानते थे। डाक्टर हॉग इस बात को स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि जन्दावस्ता में उनके पृथक्-पृथक् भेदों के अनुसार उन्हें प्रकट रूप से नहीं गिनाया गया; जैसा वेदों में ३३ देवताओं को गिनाया गया है। अतएव हम कुछ निश्चय के साथ यह परिणाम निकाल सकते हैं कि ३३ रतु ईश्वरीय सत्ताओं की गिनती करने के लिये केवल एक वाक्य रह गया था, जो प्राचीन

* देखो पं. गुरुदत्त कृत Terminology of the Vedas and European Scholars.

※ Haug's Essays, p. 276.

होने के कारण पवित्र समझा गया जिसके प्रयोग तथा वास्तविक अर्थ ईरानियों को ब्राह्मणों से पृथक् होने के पश्चात् नहीं ज्ञात रहे।"*

७—सृष्टि-उत्पत्ति

प्रकृति और जीवात्मा का अनादि होना और सृष्टि का प्रवाह से अनादि होना।

यह विश्व किस प्रकार उत्पन्न हुआ? यह प्रश्न है जिसका उत्तर देने का प्रयत्न प्रत्येक धर्म के लिये आवश्यक है।

बौद्ध धर्म जो ईश्वर या सृष्टिकर्त्ता में विश्वास नहीं रखता, इस प्रश्न का केवल यह कहकर खण्डन कर देता है कि इस संसार का न कभी प्रारंभ हुआ और न कभी अन्त होगा, अर्थात् यह संसार सदा से उसी दशा में चला आता है जिसमें वह अब है और अनन्त काल तक इसी दशा में रहेगा, परंतु बौद्ध धर्म का यह सिद्धान्त सर्वथा भ्रमपूर्ण है। वैज्ञानिक लोग बतलाते हैं कि एक समय था जब उष्णता की अधिकता के कारण पृथ्वी Molten State जलरूप थी अर्थात् जल के समान तप्त हुई थी। और वह यह भी बतलाते हैं कि यद्यपि भूगोल का बाहरी परत शीतल और ठोस हो गया है तथापि उसके भीतर अब भी बहुत गर्मी है, जैसा कि इस घटना से प्रकट है कि ज्वालामुखी पर्वतों से जो वस्तुएँ भूगर्भ के बाहर निकलती हैं वे सामान्यतः तप्त होती हैं। हमें यह भी बतलाया गया है कि जल वा तई हुई अवस्था में आने से पूर्व पृथ्वी सूर्य के समान एक अग्नि का गोला थी और उससे भी पूर्व वह वायुरूप Gaseous State में थी। वस्तुतः जब पृथ्वी इतनी उष्ण होगी तब न तो उस पर कोई जीवधारी रह सकता था और न वनस्पति ही उग सकती थी।

जिन विविध अवस्थाओं में पृथ्वी को अपने विकास-चक्र में होकर निकलना पड़ा है, और जिसे पाश्चात्य विज्ञान द्वारा हाल ही में जाना गया है उसका वर्णन प्राचीन वैदिक साहित्य में पूर्व ही किया जा चुका है। आधुनिक विज्ञान वायु अवस्था पर ही ठहर जाता है परन्तु हमारे शास्त्र उससे भी एक पग पीछे जाते हैं और एक पाँचवीं अवस्था का वर्णन करते हैं जिसका नाम आकाश है जो वायु से भी अधिक सूक्ष्म है और किसी ग्रहवा खगोल के विकास की प्रथम अवस्था है। तैत्तिरीयोपनिषद् में लिखा है :—

* Hang's Essays, p. 279.

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधयः । ओषधिभ्योऽन्नम् । अन्नाद्रेतः रेतसः पुरुषः ।

तै० उपनि० ब्रह्मानन्दीवल्ली अनुवाक २ ।

जिस समय परमात्मा ने विश्व की रचना प्रारम्भ की तो सबसे पूर्व आकाश हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से पुरुष हुआ ।

विज्ञान हमें यह भी बतलाता है कि सूर्य की उष्णता दिन-प्रतिदिन कम हो रही है, अन्त में वह एक दिन इतना शीतल हो जायगा जैसा कि हमारा भूगोल या चन्द्रमा शीतल है । इससे स्पष्ट है कि उस समय हमारी पृथ्वी मनुष्य या अन्य जीवधारियों का निवास-स्थान न रह सकेगी और न उस पर कोई वनस्पति उग सकेगी । यही दशा सूर्य-मण्डल के अन्य ग्रहों की होगी ।

निदान, भौतिक-विज्ञान की अन्वेषणा ने यह बात सिद्ध कर दी है कि एक समय था जब विविध प्रकार के पशु और वनस्पति जो सम्प्रति पृथ्वी पर निवास करते और उगते हुए पाये जाते हैं, मौजूद न थे । एक ऐसा समय आवेगा जब जीवन के सब रूप धरातल से विलीन हो जावेंगे । यह बात सूर्य के चारों ओर घूमने वाले अन्य ग्रहों के सम्बन्ध में भी सत्य है । अतएव बौद्धों का सिद्धान्त निराधार हो जाता है और प्रश्न बना रहता है कि वह कौन है जिसने इन समस्त परिवर्त्तनों को किया या कर रहा है ? कौन है जो इस अनन्त आकाश में पृथ्वी और असंख्य लोकों को विकास-क्रम की अवस्था द्वारा जलरूप से ठोस वा दृढ़ करता गया; उस पर रहने वाले विविध प्रकार के प्राणियों को उत्पन्न करता और फिर विकृतावस्था में घूमता हुआ प्रलय दशा की ओर ले जाता है ? हम उत्तर देते हैं कि वह ईश्वर है ।

वैदिक शिक्षा बतलाती है कि अभाव से भाव नहीं हो सकता और जो वस्तु है उसका अभाव नहीं हो सकता । भगवद्गीता के निम्नलिखित श्लोक में यह बात स्पष्ट रीति से कही गई है:—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।

गीता अ० २ श्लोक १६ ।

कभी असत् का भाव और सत् का अभाव नहीं हो सकता। इन दोनों का निर्णय तत्वदर्शियों ने जाना है। सांख्य सूत्र भी बताता है—'नावस्तुनो वस्तु सिद्धिः' अविद्यमान् पदार्थ से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। प्रकृति और जीवात्मा निर्लेप एवं तात्विक वस्तु हैं। वे किसी और वस्तु से मिलकर नहीं बने, न वे अभाव से उद्भूत हुए। अतएव वे अनादि पदार्थ हैं जो सदैव रहते हैं और जिनका कभी अभाव नहीं होता।[1]

इस प्रकार वैदिक तत्ववाद ३ पदार्थों को अनादि मानता है अर्थात् ईश्वर, जीव और प्रकृति। ऋग्वेद में यह बात भली भांति स्पष्ट की गई है:—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।

ऋ० वे० मं० १—सू० १६४ मं० २०।

जैसे दो समान आयु वाले और मित्रतायुक्त पक्षी एक वृक्ष पर बैठते हैं, इसी प्रकार दो अनादि और मित्रता युक्त आत्मा (अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा) अनादि प्रकृति में रहते हैं। इन दोनों में से एक (अर्थात् जीवात्मा) इस प्रकृति रूपी वृक्ष के फल को चखता है (अर्थात् दुःख सुख भोगता है जो भौतिक शरीर में बंधने का परिणाम है) और दूसरा (अर्थात् परमात्मा) इसके फल को न खाता हुआ (अर्थात् दुःख सुख न भोगता हुआ) सब कुछ देखता हुआ प्रकाशमान हो रहा है।

अर्थ तीन अथवा एक से अधिक ईश्वर में विश्वास रखना है। यह आक्षेप इतना दुर्बल है कि उसका गम्भीरतापूर्वक खण्डन करने की आवश्यकता नहीं। तीनों पदार्थों में अनादित्व समान है परन्तु शेष गुण ऐसे नहीं जो सबके लिये एक से हों। प्रकृति वास्तव में जड़ और निष्क्रिय है परन्तु ईश्वर और जीव चेतन हैं। ईश्वर और जीव में भी ईश्वर अनंत और अपरिमित

1. साधारणतया यह आक्षेप किया जा सकता है कि यह शिक्षा परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता को परिमित करती है; परन्तु यह आक्षेप निर्बल और अनुचित है। यदि कोई यह आपत्ति उठा सकता है कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् नहीं है क्योंकि यह अभाव से भाव को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं रखता तो यह भी कहा जा सकता है कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् नहीं है क्योंकि वह दो और दो पाँच नहीं कर सकता अथवा चतुष्कोण वृत नहीं बना सकता। सर्वशक्तिमत्ता का यह अर्थ नहीं है कि वह उसके करने की भी योग्यता रखता हो जिसका होना असम्भव है।

है ईश्वर समस्त आकाश में भरा हुआ और सम्पूर्ण वस्तुओं में व्यापक है। जीवात्मा एक छोटे शरीर में बँधा हुआ है। ईश्वर दुःख-सुख से परे, परन्तु जीव उसके आधीन है। ईश्वर सर्वत्र है, किन्तु जीव अल्पज्ञ। ऐसी दशा में क्या यह आक्षेप हो सकता है कि यह प्रकृति और जीव को ईश्वर मानने के समान है? क्या ईश्वरत्व अनादित्व का पर्य्याय है? क्या परमेश्वर का गुण केवल अनादित्व ही है?

ईश्वर संसार का मूल कारण और प्रकृति उसका उपादान कारण है। ये दोनों अनादि हैं और इसी प्रकार जीव भी।

परन्तु यह सृष्टि जिसमें हम रहते हैं अनादि व अनन्त नहीं है (जैसा कि बौद्धों का विचार है) इसका आरम्भ हुआ है और अन्त भी होगा। जितने समय तक एक सृष्टि स्थित रहती है उसका नाम कल्प है और अलंकार रूप से उसको ब्रह्मदिन भी कहते हैं। वह हमारे ४,३२,००,००,००० साधारण वर्षों के बराबर होता है। सृष्टि से पूर्व और पश्चात् भी इतना ही बड़ा समय होता है जिससे उपादान कारण प्रलीन अवस्था में पड़ा रहता है उसे ब्रह्मरात्रि कहते हैं। कारणरूप से कार्यरूप में आने का नाम सृष्टि है और फिर उसका कारणरूप में लीन हो जाना प्रलय कहाता है।

अभाव से सृष्टि उत्पत्ति होना अथवा उसका सर्वत्र अभाव हो जाना, दोनों ही असम्भव बातें हैं। इस सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व उपादानकारण प्रलीन अवस्था में था और उससे पूर्व दूसरी सृष्टि थी। उस सृष्टि से पूर्व फिर वही प्रलीन दशा और दशा से पूर्व फिर सृष्टि। निदान अनादि काल से ऐसा ही क्रम चला आता है। इसी प्रकार वर्त्तमान सृष्टि की भी दशा होगी। इसके पश्चात् प्रलय होकर फिर सृष्टि रची जायगी और यही क्रम अनन्त काल तक चला जायगा। जिस प्रकार दिन के बाद रात्रि और रात्रि के पश्चात् दिन आता है उसी प्रकार सृष्टि और प्रलय का अनादि, अनन्त चक्र सदा चलता है।

पाठकों को यह बताने की आवश्यकता नहीं कि परमेश्वर के साथ जीव और प्रकृति को अनादि मानना तथा सृष्टि-क्रम को प्रवाह से अनादि समझना आर्य्यतत्व-ज्ञान का प्रधान सिद्धान्त है। सभी मत (अर्थात् यहूदी, ईसाई और मुहम्मदी मत) इसके विपरीत शिक्षा देते हैं। उनके मतानुसार यह सृष्टि सबसे प्रथम और अन्तिम है। वह एक विशेष समय पर अभाव से उत्पन्न हुई और जल प्रलय का समय आयेगा फिर अभाव को प्राप्त हो

जायगी; परन्तु इस सर्वनाश में आत्माएँ बची रहेंगी; कुछ उनमें से स्वर्ग को भेज दी जावेंगी और कुछ नरक को जहाँ वे अपने कर्मानुसार अनादि काल तक रहेंगी।

यह बात कि कोई वस्तु अभाव से सत्तावान् हो सकती है फिर अभाव में परिणत हो सकती है, न केवल बुद्धि-विज्ञान के विरुद्ध है प्रत्युत् उसके मानने वालों को अनेक कठिन प्रश्नों का सामना करना पड़ेगा जैसे परमेश्वर इस विश्व को एक विशेष समय पर क्यों अभाव से भाव में लाया और फिर वह उसे क्यों एक नियत अवधि के पश्चात् नष्ट कर देगा? अपने शान्त अस्तित्व में परिवर्त्तन करने की ओर उसे किसने प्रेरणा की? जिस समय-विशेष पर सृष्टि उत्पन्न की गई उससे पूर्व उसे उसके पैदा करने की इच्छा क्यों न हुई? हमारे जो मित्र उपर्युक्त सिद्धांतों को मानते हैं वे इन और ऐसे ही अन्य प्रश्नों के उत्तर में केवल यही कह देते हैं कि ये 'रहस्य' है। इस 'रहस्य' शब्द से इन मतों की बहुत त्रुटियों को आच्छादन करने में सहायता मिलती है। वैदिक फिलासफी की दृष्टि से न तो यह प्रश्न उठते हैं और न उठ सकते हैं क्योंकि ऐसा कोई समय न था जब पहले पहल ईश्वर ने सृष्टि की रचना को। यह बात भी उल्लेखनीय है कि सेमिटिक सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व और प्रलय-पश्चात् परमेश्वर में उन गुणों का सिद्ध करना कठिन कार्य होगा जो सामान्यत उसके सम्बन्ध में कहे जाते हैं। इस सृष्टि से पूर्व उसको सृष्टा कैसे कहा जा सकता था, जब उसने इस संसार से पूर्व कोई वस्तु उत्पन्न ही नहीं की थी और उसे सर्वज्ञ कैसे कहा जा सकता है, जब कोई दूसरी वस्तु ही उपस्थित न थी जिसको वह जाने। उसे न्यायकारी कैसे कह सकते हैं क्योंकि जब कोई जीव ही न थे तो वह न्याय किसका करता? वह दयालु भी नहीं हो सकता क्योंकि कोई था ही नहीं जिस पर दया दिखाता और फिर इस बात को नहीं भूलना चाहिये कि वह समय जब से यह सृष्टि स्थित है वा जब तक रहेगी, अनन्त काल के सामने बहुत ही कम प्रत्युत् कुछ भी नहीं है। एक जल बिन्दु का समुद्र के सामने जिसका वह अंश है कुछ परिणाम हो सकता है परन्तु एक समाप्त होने वाले समय का चाहे वह कितना ही लम्बा हो, अनादि अनन्त काल के सामने कुछ भी परिणाम नहीं हो सकता। इस विचार के अनुसार परमेश्वर को निर्विकार भी नहीं कह सकते, फिर क्या यह मानना अयुक्त नहीं है कि जिन जीवों का आदि है उनका अन्त न होगा?

परन्तु हम मूल विषयों को छोड़कर अन्यत्र जा रहे हैं। यहाँ हमारा

उद्देश्य यह सिद्ध करना नहीं है कि वैदिक सिद्धांत दूसरे धर्मों से उत्कृष्ट है प्रत्युत् हमारा उद्देश्य वैदिक शिक्षा ज़रदुस्ती शिक्षा के मध्य परस्पर संबन्ध दिखलाना है। यह सिद्ध किया जा सकता है कि पारसी धर्म-ग्रन्थों में वे शिक्षाएं पाई जाती हैं जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। सासान प्रथम ने लिखा है:—"ज़ीवात्मा, अप्राकृतिक, अखण्डनीय, अनादि और अनन्त है।"

उपर्युक्त वचन की टीका करते हुए सासान पंचम जो पारसी धर्म ग्रन्थों का अन्तिम लेखक हुआ है, पहले आत्मा को अप्राकृतिक और अखण्डनीय सिद्ध करता है और फिर लिखता है :—

"इसके पश्चात् मैं कहता हूँ कि आत्मा अनादि और अनन्त है, क्योंकि प्रत्येक उत्पन्न हुई वस्तु से पूर्व उसका उपादान कारण (जिससे वह पैदा हुई) होना आवश्यकीय है। इस प्रकार यदि आत्माएँ अनादि और अनन्त नहीं हैं तो वे प्राकृतिक होनी चाहिएँ जिसका हम पूर्व ही खण्डन कर चुके हैं। यही युक्ति उपादान कारण के अनादित्व और अनन्तता सिद्ध करने के लिये दी जा सकती है।

सृष्टि और प्रलय के चक्र की शिक्षा का वर्णन भी स्पष्टतया किया गया है। पारसी धर्म-ग्रन्थों में सृष्टि को (उसके पश्चात् होने वाले प्रलय सहित) "मिहचर्ख़" कहा गया है, जो संस्कृत के महाचक्र से निकला है। हम सासान प्रथम में पाते हैं :—

"मिहचर्ख़" के आदि में सृष्टि के बनाने का कार्य नवीन प्रकार से प्रारम्भ होता है। रूप, क्रिया और ज्ञान जो इस मिहचर्ख़ में प्रादुर्भूत होते हैं वे सर्वथा वैसे ही होते हैं जो पूर्व के मिहचर्ख़ में प्रकट हो चुके हैं। प्रत्येक भावी मिहचर्ख़ आदि से अन्त तक अपने पूर्व के मिहचर्ख़ के सदृश होता है।

उपर्युक्त लेख पर सासान पंचम निम्नलिखित टीका करता है :—

मिहचर्ख़ के आदि तत्वों का मिलना आरम्भ होता है और उस समय जिन वस्तुओं का प्रादुर्भाव होता है वे वचन और कर्म में पूर्ववर्त्ती मिहचर्ख़ों के समान ही होती हैं, परन्तु सर्वथा नहीं होतीं।"

इसके साथ ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र की तुलना की जा सकती है।

ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ततो रात्र्यजायत। ततः समुद्रो अर्णवः।। समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहो

रात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी । सूर्य्याचन्द्रमसौधाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ।।

ऋ० मं० १० सूक्त १६० । मं० १

सृष्टि विकास से पूर्व—ईश्वर ने अपने ज्ञान और पराक्रम से प्रथम अनादि उपादान कारण को प्रकट किया। उस समय दिव्य रात्रि थी। उसके पश्चात् आकाश व अन्तरिक्ष की स्थापना की। आकाश स्थापित करके साँवत्सरिक गति पैदा की गई फिर संसार को वश करने वाले परमात्मा ने दैनिक गति की उत्पत्ति की जिससे रात्रि और दिन होते हैं। संसार के धारण करने वाले ने सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी तथा आकाश के अन्य नक्षत्रों को मध्यवर्त्ती अन्तरिक्ष सहित उसी प्रकार रचा जैसा कि उसने पूर्व कल्प में रचा था।

पारसी धर्म-ग्रन्थों में सृष्टि-उत्पत्ति विषयक बातें वैसे विस्तारपूर्वक नहीं लिखी गईं जैसी कि वैदिक पुस्तकों में, तथापि उपर्युक्त प्रमाण सिद्ध करते हैं कि पारसी-मत की शिक्षाएँ वैदिक धर्म से ग्रहण की गईं। पिछले अध्याय के चतुर्थ अंश में हम पूर्व हो सिद्ध कर चुके हैं कि विविध वस्तुओं, आकाश, पृथ्वी, वनस्पति, पशु और मनुष्य की रचना का जो क्रम ज़न्दावस्ता में दिया गया है वह वही है जिसका वर्णन यजुर्वेद में आया है। सृष्टि उत्पत्ति-सम्बन्धी मूसा का लेख जैसा कि पैदायश की किताब के प्रथम अध्याय में आया है ज़रदुस्ती सिद्धान्तों का अनुकरणमात्र है, परन्तु बाइबिल के कर्त्ताओं ने केवल इतना ही अंश लिया। यह ज्ञात होता है कि उन्होंने अपने विचारों को वर्त्तमान सृष्टि से आगे नहीं जाने दिया और न उस समस्या को सिद्ध करने का कष्ट उठाया कि इस संसार से पूर्व भी कोई संसार था अथवा नहीं, इसके नष्ट होने के पश्चात् भी कोई संसार होगा वा नहीं। और न यह प्रकट होता है कि उन्होंने अपने आप यह प्रश्न किया हो कि यह संसार अभाव से उत्पन्न हुआ अथवा किसी ऐसे उपादान कारण से जो पूर्व ही से उपस्थित था। क्योंकि बाइबिल में इस सेमी सिद्धान्त का कि संसार शून्य से उद्भूत हुआ और वह पहली बार ही पैदा किया गया, कोई स्पष्ट वर्णन नहीं है। वस्तुतः यह ध्यान में रखने योग्य बात है कि 'हिब्र' शब्द बारा 'Bara' का जो पैदायश की किताब के प्रारम्भ में ही आया है और जिसका अनुवाद "उत्पन्न हुआ" किया गया है, शुद्ध अर्थ "काटा गया" किसी में "काटकर बनाया गया" है। उससे सिद्ध होता है कि 'पैदायश की

किताब' का कर्त्ता कदाचित् उपादान कारण की सत्ता में विश्वास रखता था। पीछे जैसे लोग वैदिक शिक्षा के मूल तत्व को भूलते गये, वैसे वैसे सभी मतों का यह विश्वास दृढ़ हो गया कि यह संसार सबसे पहिला और सबसे पिछला है और वह अभाव से पैदा हुआ तथा फिर से सत्ताहीन हो जायगा। हम यह पूर्व ही बता चुके हैं कि यह अनुमान कितना अयुक्त और विज्ञान-विरुद्ध है।

अब यह सुलभतापूर्वक सिद्ध हो जायगा कि बौद्धों का सिद्धान्त भी वैदिक शिक्षा से सम्बन्ध रखता है। बौद्ध सिद्धान्त वहाँ तक ठीक है जहाँ तक वह सृष्टि की अनादिता और अनन्तता का समर्थन करता है, परन्तु जब वह वर्त्तमान संसार का जिसमें हम रहते हैं, आदि और अन्त होना नहीं मानता तो भूल करता है। सेमी सिद्धान्त इसके ठीक प्रतिकूल है, उस अंश तक तो वह ठीक है जब तक उसका विश्वास है कि सृष्टि का आदि भी है और अंत भी। परन्तु जब वह इस बात को नहीं मानता कि इस सृष्टि के उत्पन्न होने से पूर्व दूसरी सृष्टि थी अथवा इसके पश्चात् और संसार होगा तो वह भूल करता है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि बौद्ध और सेमी दोनों मतों के विचार वहाँ तक तो ठीक हैं जहाँ तक वे मानते हैं परन्तु न मानने के अंश में वे ठीक नहीं रहते, दोनों ही अपूर्ण हैं। एक, एक बात में भूल करता है तो दूसरा, दूसरी ओर चलकर रुक जाता है। दोनों एक दूसरे की पूर्ति करने वाले हैं। वैदिक शिक्षा मूल सिद्धांत है जिससे दोनों मत निकले हैं तथा जिसके दोनों ही पृथक् और अपूर्ण अंश हैं।

८—पुनर्जन्म

मैं कहाँ से आया हूँ ? कहाँ जाऊँगा ? इस प्रश्न को सभी किसी समय करते हैं। ये जीवन-सम्बन्धी वैसे ही प्रश्न हैं जैसे कि पिछले अंश से सृष्टि सम्बन्धी प्रश्न दिये जा चुके हैं। उनका सम्बन्ध उपादान कारण से है, इनका आत्मा से। वे भौतिक विज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं और ये आध्यात्मिक ज्ञान से; परन्तु धर्म की विस्तृत सीमा के अन्तर्गत दोनों ही हैं और प्रत्येक धर्म को उक्त दोनों प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देना चाहिये।

सृष्टि सम्बन्धी प्रश्नों के समान ही इस विषय में भी वैदिक धर्म के उत्तर सेमी मतों के सर्वथा विपरीत प्रतीत होंगे। वस्तुतः प्रस्तुत प्रश्नों में से प्रत्येक प्रश्न के उत्तर वैसे ही हैं जो उन्होंने सृष्टि सम्बन्ध में दिये थे।

हम देख चुके हैं कि वैदिक मत के अनुसार ऐसी ही अनन्त सृष्टियों में से वर्त्तमान सृष्टि भी एक है। उसी प्रकार हम यह भी मानते हैं कि हमारा वर्त्तमान जीवन असंख्य योनि चक्र के क्रम में से एक है। यहाँ यह आवश्यक नहीं कि पूर्व के समस्त जीवन मनुष्य जीवन ही रहे हों। उपादान कारण के समान आत्मा भी अनादि अनन्त है अथवा समुचित शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वह अजर और अमर है।

कठोपनिषद् कहता है :—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो हन्यते हन्यमाने शरीरे।

कठो० अ० १ व० १८॥

यह चेतन आत्मा न पैदा होता और न मरता है। न वह किसी वस्तु से बनता है, न उससे कोई वस्तु बनाई जा सकती है। वह अजर, अनादि, अनन्त और सनातन है। वह शरीर नष्ट होते समय नष्ट नहीं होता।

आत्मा का किसी शरीर विशेष से संयोग होना जन्म और उससे वियोग मरण कहाता है। आत्मा एक नाशवान् चोले को छोड़कर स्व-कर्मानुसार मनुष्य, पशु और वनस्पतियों तक की योनि में जा सकता है। हम कठोपनिषद् से फिर उद्धृत करते हैं :—

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनं।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम॥
योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथा कर्म यथा श्रुतम्॥

कठ० वल्ली ५। ६-७

हे गौतम! मैं तुझ पर वह सनातन और दिव्य रहस्य प्रकट करूँगा कि मरने पर आत्मा कहाँ जाता है? कुछ आत्माएँ अपने कर्म और ज्ञानानुसार दूसरे शरीर धारण कर लेती हैं और कुछ वनस्पति अवस्था में चली जाती हैं।

यह आवागमन का क्रम उस समय तक रहता है, जिस समय तक आत्मा अपने समस्त पापों से मुक्त हो योग द्वारा सत्य और पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति या निर्वाण पद प्राप्त करती तथा परमेश्वर से सहयोग करके पूर्णानन्द का उपभोग करती है।

जैसा कि पूर्व ही कहा जा चुका है सेमी मतानुसार संसार अपने ढंग का सबसे पहला और सबसे पिछला है। तदनुसार उन मतों का यह भी सिद्धांत है कि हमारा वर्त्तमान जीवन इस प्रकार का एक ही जीवन है। आत्मा अपने भौतिक देह के साथ पैदा होता है, शरीर के साथ ही नष्ट नहीं होगा और न वह फिर शरीर ही धारण करेगा, प्रत्युत् मृतोत्थान के उस दिन तक अपने भाग्य के निर्णय की प्रतीक्षा करेगा, जिस दिन कि ईश्वर प्रत्येक आत्मा के लिए न्याय-व्यवस्था देगा और कुछेक को सदैव के लिए स्वर्ग में और शेष को सदैव जलने वाली नरकाग्नि में भेजेगा।

सृष्टि संबंधी प्रश्नों के समान ही इस सिद्धांत के मानने वाले पुरुषों को अनेक कठिन प्रश्नों के उत्तर देने पड़ते हैं। ईश्वर ने अभाव से आत्मा को क्यों उत्पन्न किया और किसी को दुःखी और किसी को सुखी बनाया ? यदि यह मान भी लिया जावे कि उसने आत्माओं को उत्पन्न किया तो उसने किसी-किसी को ही शारीरिक, मानसिक और सदाचारिक उत्तम गुण क्यों प्रदान किये ? सबको क्यों नहीं ? उसने किसी को बुरी दशा में क्यों रक्खा ? दुःख सुख और ज्ञान व आचार सम्बन्धी गुणों का विषय होना ऐसी सत्य घटना है कि उससे कोई इन्कार नहीं कर सकता और वह इतनी स्पष्ट है कि कोई कितना ही तर्क करे उसकी यथार्थता को नहीं हटा सकता। यदि दण्ड या उपहार योग्य आत्मा के पूर्व शुभाशुभ कर्म न थे तो क्या परमेश्वर अन्यायी है ? जब हमारे मित्रों पर इस प्रकार के जटिल प्रश्नों का भार पड़ता है तो वे 'रहस्य' शब्द की शरण टटोलते फिरते हैं, जो इस प्रकार के कठिन प्रश्नों से त्राण पाने का सुगम मार्ग है।

यह सिद्धान्त अन्याय से प्रारम्भ होकर अन्याय पर ही समाप्त होता है। मनुष्य का जीवन चाहे जितना दुष्टतापूर्ण हो तथापि वह अन्याय की दृष्टि से अनन्तकाल के लिये नरक-यन्त्रणा भोगने का भागी नहीं हो सकता। न्याय के साथ यदि दया को न भी सम्मिलित किया जाय तथापि आवश्यकता है कि दण्ड की मात्रा अपराध के अनुसार ही होनी चाहिये। एक दुष्टतापूर्ण जीवन में चाहे वह २०० वर्ष का ही माना जाय और अनन्त काल तक रहने वाली नरकाग्नि की कठोर यन्त्रणा में भला क्या सम्बन्ध हो सकता है ? सदा के लिये दण्ड का विचारमात्र ही अत्यन्त भयावह और घृणास्पद है। इसमें आश्चर्य नहीं कि इसी कारण बहुत से

विचारशील ईसाइयों की आत्मा उससे विरोध करने लगी। लोक[1] (Locke) जैसे कुछेक विद्वान् विचारकों ने यह उत्तर देकर छुटकारा पाया है कि केवल पुण्यशील आत्मा अनन्तकालीन जीवनोपभोग करती हैं और पापात्मा नष्ट हो जाती हैं, अर्थात् उनका अस्तित्व ही नहीं। क्या ही अच्छा उत्तर है ? आत्मा का सर्वथा अस्तित्वहीन हो जाना उतना ही असम्भव है जितना अभाव से उसका उत्पन्न होना। इस उत्तर के अनुसार केवल नरक सम्बन्धी सिद्धान्त ही नहीं प्रत्युत आत्मा का अमरत्व भी कोरी कल्पना रह जाती है।

इसके अतिरिक्त क्या यह न्याय है कि जब उसका सारा भविष्य, नहीं नहीं, अनन्त काल खतरे में हो, आत्मा को केवल एक ही परीक्षा का अवसर दिया जावे। इसे कोई अस्वीकार नहीं करता कि मनुष्य जीवन एक कठिन परीक्षण है। पद-पद पर प्रत्येक प्रकार के प्रलोभन हमारे मार्ग में उपस्थित होते हैं और बहुत से लोग सुलभतया उनके चंगुल में फंस जाते हैं। यहां तक कि ईसाई लोग संसार में इतने अधिक पापों का कारण बताने के लिए शैतान के व्यक्तित्व को और इस सिद्धान्त को मानना आवश्यक समझते हैं कि आदम के पाप करने से सब मनुष्यों के आत्मा में पाप का बीज आ गया। इस पर भी आत्मा को केवल एक बार ही परीक्षा का अवसर दिया जाता है, अधिक नहीं। यदि वह परीक्षा में सफल होकर निकल आती है तब तो अच्छी बात है नहीं तो दुःख है; क्योंकि इस दशा में उसको अनन्त काल के लिये दण्डित किया जाता है और फिर उसको मुक्ति की कोई आशा नहीं रहती। पाठकगण ! इसकी तुलना पुर्नजन्म सम्बन्धी वैदिक शिक्षा से कीजिए जिसके अनुसार भूली हुई आत्माओं को लघुत्तर श्रेणी के जीवों के शरीरों में नियत अवधि तक अपने कुकर्मों का फल भोगना पड़ता है और जब वे अपने पापों से मुक्त हो जाती हैं तो फिर वे मनुष्य योनि में जन्म ग्रहण करती हैं। इस प्रकार उनको स्वतन्त्रतापूर्वक ज्ञान द्वारा सन्मार्ग या कुमार्ग ग्रहण करके मुक्ति के लिये प्रयत्न करने का नवीन रूप से अवसर दिया जाता है। हम यह भी कहना चाहते हैं कि समस्त आत्माओं को साधारण दृष्टि से भलाई बुराई की दो श्रेणियों में विभक्त करके उनमें से एक को सदा के लिये स्वर्ग भेज देने और दूसरी को नरकानल में झोंक देने से न्याय का पेटा पूरा नहीं होता।

1. देखो Locke's Treatise on the Reasonableness of Christanity और Life of Locke by Thomas Fowler, pp. 155-157.

मनुष्यों के कर्म भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं और उनमें भलाई या बुराई की उतनी ही श्रेणियां हैं जितने कि मनुष्य हैं। उनके साथ न्याय-पूर्ण और समुचित व्यवहार करने के विचार से यह आवश्यकीय है कि उपहार व दण्ड भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हों और ऐसा होना पुर्नजन्म द्वारा ही सम्भव है, जिसमें सुख और दुःखों की असंख्य कक्षाएं नियत की जा सकती हैं।

इस आवागमन की शिक्षा पारसी पुस्तकों में भी दी गई है, जैसा कि "वैदिक धर्म" में होशंग में लिखा है :—"पुराना चोला छोड़कर नया शरीर धारण करना अनिवार्य है।" फिर 'नामा मिहावाद' में पढ़ते हैं :—"अपने कर्म व ज्ञान के अनुसार प्रत्येक मनुष्य स्वर्ग व नक्षत्रों में स्थान पाता तथा वहाँ सदैव रहता है। जिसने अच्छे कर्म किये हैं और जो संसार में आना चाहता है, वह राजा, मन्त्री, शासक व धनी पुरुष का जन्म धारण करता है, जिससे वह अपने कर्मों का फल पा सके।" बाशदाबाद नबी की सम्मति है कि जो दुःख, शोक और रोग राजाओं को अनन्तोपभोग के बीच में सताते हैं वे उनके पूर्वजन्म कृत कुकर्मों का परिणाम होते हैं।

उपरोक्त लेख पर सासान पंचम टीका करते हैं कि "अशुभ कर्मों का अशुभ और शुभ कर्मों का शुभ फल भोगते हैं क्योंकि यदि ईश्वर कुकर्मों का दण्ड न दे या अपर्याप्त रूप से दे तो वह न्यायकारी नहीं हो सकता।"

मिहावाद से हम फिर उद्धृत करते हैं :—'जो लोग कुकर्मी हैं उन्हें पहले मनुष्य शरीर में ही दुःखदर्द का दण्ड दिया जाता है। उदाहरणार्थ रोग, माता के गर्भ में तथा उससे बाहर पीड़ा, आत्मघात, क्रूर और हानिकारक जीवों द्वारा कष्ट पाना, मृत्यु द्वारा ये जन्म ग्रहण करने की तिथि से मरने तक अपने पिछले कर्मों के परिणाम हैं और यही बात वस्तुओं के उपभोग के विषय में सत्य है। (७०)

सिंह, चीता, बाध, बघेरा, भेड़िया तथा समस्त क्रूर जीव जो अन्य पशु, पक्षी, चौपाए और कीड़े-मकोड़ों को हानि पहुँचाते हैं पहले प्रतिष्ठित और उच्च पदस्थ मनुष्य थे और वे पशु* जिन्हें अब ये मनुष्य मारते हैं

* सम्भव है यह व्याख्या कोरी कल्पना प्रतीत होगी। कुछेक संस्कृत पुस्तकों में भी ऐसे ही अथवा इनसे भी अधिक कल्पित व्याख्यान मिलेंगे परन्तु वास्तव में वे पुर्नजन्म सिद्धान्त के आवश्यकीय अंग नहीं हैं और उनसे इस सिद्धान्त का महत्त्व कम नहीं होना चाहिये जो ईश्वरीय न्याय को युक्त और तात्विक रीति से सिद्ध करता है और संसार में दुःख सुख के विषम विभाग का कारण बतलाता है।

उनके मन्त्री, सेवक और सहायक थे। लोग उनकी मन्त्रणा वा सहायता से बुरे कर्म करते तथा अनुपकारी और निरपराध जीवों के लिए दुःखदायी होते थे। अब वे अपने शासक और स्वामी के हाथों से दण्ड पा रहे हैं। (७१)"

अन्त में ये जानवर जो किसी समय में उच्च पदस्थ थे अब क्रूर पशुओं के रूप में कर्मानुसार किसी दुःख, दर्द या आघात से मर जाते हैं। यदि फिर भी उनके पापों का कोई अंश रहेगा तो वह अपने सहायकों सहित पुनः जन्म धारण कर दण्ड भोगेंगे। (७२)"

उपरोक्त लेख पर टीका करते हुए सासान पंचम लिखते हैं—"जब तक पाप की मात्रा समाप्त न हो जायेगी तब तक वह दण्ड भोगते ही रहेंगे, चाहे उसकी पूर्त्ति एक ही जन्म में हो वा १० और १०० में अथवा इससे भी अधिक में।"

मिहावाद लिखता है :—

तुम ज़न्दवार जानवरों को मत मारो, अर्थात् ऐसे जानवरों को नहीं मारते अथवा हानि नहीं पहुँचाते, जैसे घोड़ा, गाय, ऊँट, खच्चर, गधा, तथा इसी प्रकार के जन्तु। तुम उन्हें निर्जीव मत करो, क्योंकि सर्वज्ञ परमेश्वर ने उनके दण्ड का प्रकार दूसरा नियत कर दिया है और वह उनके पूर्व कर्मों का फल दूसरी रीति से भुगवाता है, जैसे घोड़े से सवारी का काम लिया जाय, और बैल, ऊँट, खच्चर और गधे बोझ ढोने के काम आवें। (७४)"

यदि कोई समझदार मनुष्य जानबूझ कर ज़न्दवार जानवरों को मारता है और परमेश्वर या राजा से उसके लिये अपने जीवन दंड नहीं पाता तो फिर वह दूसरे जन्म में उसका फल भोगता है। (७५)"

ज़न्दवार जानवरों की हत्या करनी उतनी ही बुरी है जैसा किसी मूर्ख और निरपराध मनुष्य को मारना। (७६)"

(क्योंकि मूर्ख मनुष्यों के समान) ज़न्दवार भी बोझा ढोने के काम आते हैं, परमेश्वर के कोप से इस दशा को प्राप्त हुये हैं। (७७)"

यदि तुन्दवार[1] जानवर अर्थात् जो दूसरे जानवरों को मारता अथवा कष्ट पहुँचाता है ज़न्दवार को मारे, तो यह मारे जाने वाले का दण्ड है, जिसका रक्त बहाया गया उसके कार्यों का परिणाम है, जिसके प्राण लिये गये उसके कर्मों का फल है, क्योंकि तुन्दवार जानवर दण्ड देने के लिये बनाये गये हैं। (७९)"

तुन्दवार जानवरों का मारना उचित और उपयोगी है; क्योंकि वे अपने अन्तिम और पूर्व जीवन में क्रूर तथा घातक (मनुष्य) थे और निरपराध जीवों की हत्या किया करते थे। जो उन्हें मारता है पुण्य कमाता है। मनुष्यों में जो लोग मूर्ख, अज्ञानी और दुराचारी हैं वे अपनी मूर्खता, अज्ञानता और दुराचारिता का दण्ड वनस्पति के रूप में पाते हैं। (८०,८१)

वे लोग जिनके आचार-विचार बुरे हैं धातु[2] बनते हैं और जब तक प्रत्येक जीव के पापों का दण्ड नहीं मिल जाता कि कोई पाप शेष न रहे तब तक वे धातु बने रहते हैं। फिर क्लेश और अधःपतन सहन करने के पश्चात् पुनः मनुष्य-देह प्राप्त करते हैं। तदुपरान्त फिर वे उन कर्मों का फल भोगेंगे जिन्हें वे मनुष्य योनि में करेंगे। (८३)

---

1. युक्ति इस प्रकार है :-तुन्दवार जानवर सिंह आदि विचारहीन होने के कारण अपने कर्मों के उत्तरदाता नहीं हैं। वे परमेश्वर के हाथ में दण्ड देने के अस्त्र के समान हैं। अतएव यदि तुन्दवार जानवर किसी ज़न्दवार को मार दे तो उसे ईश्वर की ओर से दण्ड समझना चाहिये परन्तु यदि कोई ज़न्दवार जानवर को मार दे तो ऐसी कल्पना न करनी चाहिये, क्योंकि मनुष्य विचारवान् होने के कारण अपने कर्मों का उत्तरदाता है, सो यदि वह ज़न्दवार को मारता है तो पाप करता है। वस्तुत यह सिद्धान्त वही है जिसकी व्याख्या वैदिक धर्म में की गई है। मनुष्य से नीची श्रेणी के जीव 'भोग योनि' कहाते हैं, अर्थात् वे योनि ऐसी हैं जिनमें जीवों को बुरे कर्मों का दण्ड दिया जाता है। इसके विपरीत मनुष्य 'कर्म योनि' में है अर्थात् वह न केवल अपने पिछले जन्म के भले बुरे कर्मों का फल भोगता है प्रत्युत जो कुछ इस जीवन में करता है उसका भी उत्तरदाता है। यह बात सासान प्रथम के ८३ वचन में भी स्पष्टतया वर्णन की गई है।

2. यह विचार कि आत्मा धातु का रूप भी ग्रहण करता है, वैदिक सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है।

पिछले अध्याय में पाँचवें और छठे अंशों में हमने कहा था कि बाइबिल और कुरान ने स्वर्ग और नरक सम्बन्धी अपने विचार ज़न्दावस्ता से लिये हैं। यह ठीक है परन्तु हमें केवल यह स्मरण रखने की आवश्यकता है कि पारसियों का सातवाँ या सर्वोच्च स्वर्गधाम 'ग़रत्मान' अर्थात् 'प्रकाशगृह'[1] कहाता है, जिसमें अहुरमज़दा-अमश, स्पन्द तथा पवित्र लोगों की आत्माओं के साथ रहता है। यह बात वैदिक सिद्धान्त में मुक्ति के विषय में घटती है जिसमें जीवात्मा ईश्वर से संयोग करके पूर्णानन्द का उपभोग करता है। ज़रदुस्तियों के शेष दर्जे उस उच्च दशाओं के स्थानापन्न हैं, जिनमें होकर मनुष्य की आत्मा मुक्ति तक पहुँचता है और जो नरक के दर्जे कहे गये हैं उनसे उन नीच योनियों की ओर निर्देश किया गया है जो मनुष्य को आवागमन के चक्र में पड़ कर प्राप्त होती हैं। इस बात की पुष्टि दसातीर ने भलीभांति की है। सासान प्रथम कहते हैं—

"आत्मा एक शरीर से दूसरे में जाती है। जो लोग सब प्रकार के बुरे कर्मों से मुक्त होते हैं वे ईश्वर का दर्शन करते हैं। जिनके शुभ कर्म कुछ कम श्रेणी के होते हैं वे स्वर्ग में निवास करते हैं। जो और भी नीची श्रेणी के होते हैं वे एक भौतिक शरीर से दूसरे में जाते हैं।" इस पर सासान पंचम टीका करते हैं :—

"जो सबसे प्रथम और उच्च श्रेणी के अच्छे आदमी हैं तथा जो वचन और कर्म से पूर्णता को प्राप्त हो चुके हैं वे प्रकाशमय[2] जगत् को जाते हैं। उनसे दूसरे दर्जे पर वे लोग हैं जिन्होंने भौतिक सम्बन्ध से अपने को मुक्त कर लिया है। ये लोग उस स्वर्ग विशेष को जाते हैं जिससे उन्होंने सम्बन्ध पैदा कर लिया है और वे उससे सम्बन्ध रखने वाले ज्ञानानन्द को प्राप्त होते हैं। यदि जीवात्मा भौतिक सम्बन्ध से मुक्त नहीं होता और उसकी भलाई या धर्म अधिक होता है तो वह एक मनुष्य देह से दूसरे में जाता है यहाँ तक कि मुक्ति प्राप्त कर लेता है। यह चक्र फरहंगसार कहलाता है। बुरे कर्मों के कारण आत्मा मूक जानवरों की योनि ग्रहण करता है, यह नंगसार कहलाता है। कभी-कभी वह वनस्पति में जाता है जिसको तंगसार कहते हैं। कभी-कभी वह धातु बन जाता है और इसको संगसार के नाम से

1. वेदों में भी मुक्ति या स्वर्ग को स्वः द्यौः आदि प्रकाश बोधक नामों से पुकारा गया है।

2. इसका वैदिक मुक्ति से सादृश्य जान पड़ता है और पारसियों का गरत्मान नामक यही सातवाँ आसमान है।

पुकारते हैं। ये ही नरक के दर्जे का विभाग कहाते हैं।" इससे स्पष्ट है कि ज़रदुस्तियों का नरक स्वर्ग सम्बन्धी विचार जैसा उनके सुप्रसिद्ध पारसी दस्तूरों ने लिखा है भौतिक अर्थों में नहीं समझना चाहिये। और वह किसी प्रकार आवागमन के सिद्धान्त के विपरीत नहीं है। यहूदी, ईसाई और मुसलमानी मतों में इस शिक्षा का यथार्थ और भी अधिक भुला दिया गया। वे पुर्नजन्म के सिद्धान्त को भूल गये और नरक स्वर्ग आत्मा की दशा में न मानकर स्थान-विशेष के नाम समझे जाने लगे।"

६–मांस-भोजन-निषेध

आवागमन में विश्वास रखने से स्वभावतः ही पशु जीवन के प्रति प्रतिष्ठा का भाव उत्पन्न होता है जिससे जीवों के प्राण पवित्र माने जाते हैं। इस परिणाम के उदाहरणार्थ हम पिछले अंश में उद्धृत किये हुए "नामामिहावाद के ७४ मे ७७ वचनों की ओर ध्यान दिलाते हैं।" कोई आश्चर्य की बात नहीं कि वैदिक और पारसी धर्म दोनों ही माँस-भक्षण और रसना के स्वाद के निमित्त निरपराध पशुओं के वध का निषेध करते हैं। इसे हर कोई जानता है कि वैदिक धर्म में माँस खाने की आज्ञा नहीं, पारसी मत की पुस्तकें भी इसका खण्डन करती हैं। पाठकों के ध्यान में यह बात हमारे उद्धृत किए हुए मिहावाद के ७१-७६ वचनों से पूर्व ही आ गई होगी। आगे चलकर वे लिखते हैं :—

"बहुत से विचारवान् बनाए गए हैं तथापि वे बुरे कर्म करते हैं; जैसे वे मनुष्य जो निरपराध पशुओं के वध करके उनके माँस से अपने उदर की पूर्ति करते हैं।" (१३१)

फिर 'जवांशेर' में एक 'सम्मेलन' की बातें लिखी है जिसमें मनुष्य और जानवरों के प्रतिनिधि विवाद के लिये एकत्रित हुए थे।

उसमें लोमड़ी ने मनुष्य से इस प्रकार कहा :—"जन्तु अन्य जीवों का हनन करने के लिये बाध्य है क्योंकि उनका प्राकृत भोजन मांस है। परन्तु मनुष्य को मांस खाने की आवश्यकता नहीं है। तब वह क्यों उनके जीवन का हरण करता है? तुम इस प्रकार के कार्य्य करने से पापी बन गए हो अतएव धर्मात्मा और ईश्वरभक्त पुरुष तुमसे बहुत दूर भागते हैं।" मनुष्य का प्रतिनिधि इसका उत्तर देने में असमर्थ रहा।

यद्यपि मांस खाने का निषेध किया गया है, परन्तु यह बात नहीं कि किसी प्रकार जानवर का वध ही न किया जावे। वैदिक और पारसी दोनों

धर्म हानिकारक और भयङ्कर जीवों को मारने की आज्ञा देते हैं। (देखो पूर्व के अंश में उद्धृत मिहवाद ८०)

१०—गौ की प्रतिष्ठा

इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दू और पारसी दोनों खेती और गृहस्थ सम्बन्धी कार्य्यों में उपयोगी होने के कारण, गाय के प्रति विशेष प्रतिष्ठा का भाव रखते हैं। ज़न्दावस्ता के निम्नलिखित वाक्य की अपेक्षा इस विषय में अधिक स्पष्ट एवम् ललित साक्षी और क्या हो सकती है?

"बैल में हमारी आवश्यकता है, बैल में हमारी वाक् शक्ति है, बैल में हमारी विजय है, बैल में हमारा भोजन※ है, बैल में हमारा कृषि-कर्म है जो हमारे लिये अन्न उपजाता है।" (बहराम यश्त ६६)

गौ की पवित्रता के भाव की जड़ पारसी धर्म में वैदिक धर्म से भी अधिक गहरी है, क्योंकि उनके ईश्वरीय ज्ञान और ज़रदुस्ती मिशन से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम पादरी एल० ए० मिल्स लिखित यास्त २१ के भावार्थ से उद्धृत करते हैं—"गौओं की आत्मा पवित्र ईरानी लोगों के समुदाय की प्रतिनिधिस्वरूप होकर (क्योंकि उत्तम जीविका का एक मात्र साधन गौ ही थी) उच्चस्वर से पुकारती हैं और संकटापन्न लोगों की महान् आवश्यकताओं को प्रकट करती हुई अत्यन्त करुणापूर्वक अहुर और उनके दिव्य सेवक आशा को सम्बोधित करती हैं।"★

"हे अहुर और अशा! तुम्हारे समक्ष गौओं● (हमारे पवित्र और जनसमूह) की आत्मा पुकारती है—तुमने मुझे किसके लिये पैदा किया था? मेरे ऊपर कोप और क्रूर शक्ति का आक्रमण होता है, मृत्यु का आघात पहुँचाया जाता है। ढीठ, दुष्ट और चोरों की शक्ति का आक्रमण किया जाता है। आपके अतिरिक्त मेरे पास दूसरा चारा नहीं। अतएव आप मुझे खेतों में अच्छी कृषि करना सिखाओ, मेरे भले की केवल यही आशा है।"

※ इससे कोई यह परिणाम न निकाले कि प्राचीन पारसी लोग गोमांस खाते थे। उसके आगे का वाक्य इस बात को स्पष्ट कर देता है—"बैल में हमारी कृषि है जो हमारे लिये भोजन उत्पन्न करती है।"

★ देखो ज़न्दावस्ता भाग ३ पृ. ३।

● डॉक्टर हॉग इसका अर्थ "पृथ्वी की आत्मा" करते हैं। गौ के अर्थ पृथ्वी और गाय दोनों के हैं। देखो ११ अंश।

इस अवसर पर ज़रदुश्त भी आकर गौ की आत्मा के साथ उसके बिनती तथा प्रार्थना में सम्मिलित हो जाते हैं। तब अहुर इनको ऋषि स्मृतिकार के पवित्र पथ पर प्रतिष्ठित करता है।

इस बात को दर्शाने के लिए कि पारसी लोग गौ के कितने भक्त हैं, यह लिखना आवश्यक है कि गौमूत्र जो ज़न्दअवस्ता में गोमेज़ (सं० गोमेह) कहलाता है, उनके संस्कार और कृत्यों में लाया जाता है। डॉक्टर हॉग इसके सम्बन्ध से बरशनोम नामक संस्कार का वर्णन करते हैं जो नौ रात्रि तक होता है और जिसमें संस्कार करने वाला गौ-मूत्र पीता है। वे आगे लिखते हैं :—"यह प्रथा बहुत पुराने समय से चली आई है जब कि प्राचीन आर्य्य गो-मूत्र में रोग दूर करने और शुद्ध करने के गुण मानते थे।"[1] हिन्दुओं के संस्कारों में पंचगव्य और गौमूत्र के उपयोग का वर्णन करते हुए डॉक्टर हॉग लिखते हैं :—यह प्रथा बहुत ही पुराने समय से चली आई है जब कि गौ-मूत्र सारे शारीरिक रोगों के लिये एक बड़ी प्रभावशाली औषधि समझा जाता था। योरप के देशों में भी हमारे समय तक किसानों के वैद्य गौमूत्र और गोबर जैसी औषधियों का प्रयोग करते आये हैं।"[2]

११—यज्ञ क्रिया

ज्ञान काण्ड वा धार्मिक सिद्धान्तों से अब हम यज्ञ-कृत्यों की ओर आते हैं। इस विषय में पारसी या वैदिक धर्म के मध्य जो समानता पाई जाती है, वह बहुत ही आश्चर्यजनक है।

पिछले अध्याय के ७ वें अंश में हम पूर्व ही कह चुके हैं कि वैदिक कर्मकाण्ड में अग्निहोत्र को कितनी अधिक प्रधानता है। वह आर्य्यों के पंच नित्यकर्मों में से एक कर्म है। मनुष्य को जन्म से लेकर मरण-पर्यन्त जो १६ संस्कार करने पड़ते हैं, प्रत्येक में उसका विधान किया गया है। हम यह बात भी बता चुके हैं कि पारसी लोग इस कृत्य को करने में कितने नियमित हैं, यहाँ तक कि उनका नाम ही अग्निपूजक हो गया।

दोनों धर्मों के कृत्यों की समानता उन नामों में भी पाई जाती है जो उनके लिए व्यवहृत होते हैं। हम डॉक्टर हॉग का लेख उद्धृत करते हैं— "वेद और ज़न्दावस्ता को पढ़ने वाले लोगों को आरम्भ ही में ज्ञात होगा

1. देखो फुटनोट पृष्ठ १२४ पर।
2. देखो Haug's Essays, p. २४१,२५२,२९५

कि पुरोहिताई के कृत्यों से सम्बन्ध रखने वाले बहुत-से शब्द एक ही हैं। ज़न्दावस्ता में पुरोहित के लिये अथर्व शब्द आता है जिसका मिलान वेदों में अथर्वण से किया जा सकता है। इसके अर्थ अग्नि और सोम पुरोहित के हैं। वैदिक शब्द इष्टि और आहुति की पहचान ज़न्दावस्ता के इश्ति और आजुति से होती है। दोनों धर्मों में वे मुख्य-मुख्य नाम एक ही हैं जो किसी बड़े यज्ञ का सम्पादन करते समय कतिपय पुरोहितों को दिये जाते हैं। ऋग्वेद का उच्चारण करने वाले 'होता' और 'ज़ोता' पुरोहित एक ही बात है। अध्वर्यु अथवा प्रबन्धकर्त्ता पुरोहित जो होता के लिये सब सामग्री संचित करता है यह रथ्वी है जो अब रस्मी कहाता है। यह अब प्रधान पुरोहित या जोता का एक सेवकमात्र होता है।"[1]

यस्न शब्द संस्कृत 'यज्ञ' शब्द से पूर्ण मिलता है।[2]

समानता की इतिश्री यहीं नहीं हो जाती। डाक्टर हॉग साहब पारसी और इस देश के प्राचीन आर्यों में बहुत मुख्य-मुख्य यज्ञों में सादृश दिखाते हैं।

"ज्योतिष्टोम वा इजश्ने" यज्ञ में सोमलता के रस की आहुति देना सब से अधिक महत्व की बात है। दोनों के यज्ञों में इस पौधे की डालियाँ प्राकृतिक रूप से उस पवित्र स्थान पर लाई जाती हैं जहां यज्ञ होता है और वहां प्रार्थना पढ़ते हुए उसका रस निचोड़ा जाता है। रस निकालने की विधि तथा उसके लिये जो पात्र व्यवहृत होते हैं उनमें कुछ भेद हैं परन्तु यदि अधिक अन्वेषण की जावे तो इन दोनों में भी वास्तविक समता पाई जाती है।"

"दर्शपौर्णिमा इष्टि" (अमावस्या और पूर्णमास का यज्ञ) पारसियों के दारून (Darun) से मिलता हुआ मालूम होता है। दोनों बहुत साधारण हैं। ब्राह्मण लोग यज्ञ में विशेषतः पुरोडास का उपयोग करते हैं और पारसी लोग 'पवित्र रोटियों' (दारून) का जो पुरोडास से मिलती हुई है।

"चातुर्मास्येष्टि यज्ञ" जो चार मास अथवा दो ऋतुओं के पश्चात् किया जाता है, पारसियों के 'गहन बार' से मिलता है जो वर्ष में ६ बार होता है।[3]

बहुत से विद्वानों का कथन है कि वेद में पशु-वध की आज्ञा है, यहाँ तक कि यज्ञ के लिये गौवध तक का विधान है। यह प्रश्न इतना विवादा-

1. Haug's Essays, p. 280
2. Ibid, p. 130
3. Haug's Essays, p. 215

स्पद है कि उसकी इस पुस्तक में विवेचना नहीं की जा सकती, तथापि हम वैदिक यज्ञ गोमेध के सम्बन्ध में जिसके अर्थ गोवध के लगाये जाते हैं—कुछ कहना उचित समझते हैं। हम उस यज्ञ को ज़न्दावस्ता में भी पाते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने सत्यार्थप्रकाश[1] में बतलाते हैं कि संस्कृत भाषा के 'गो' शब्द के अर्थ केवल गाय के ही नहीं प्रत्युत पृथ्वी और इन्द्रियों के भी हैं। गोमेध का आधिभौतिक अर्थ खेती के लिये धरती जोतना और आध्यात्मिक अर्थ इन्द्रिय-दमन है। कुछ लोग इस व्याख्या का उपहास करते हुए उसे अर्थ की खींचतान बताते हैं। वे यहाँ तक कह डालते हैं कि वेद के इस प्रकार अर्थ लगाना अन्याय है। हमें देखना चाहिये कि डॉक्टर हॉग जैसे प्रामाणिक और विश्वस्त पुरुष पारसियों के विषय में क्या सम्मति देते हैं "गीश उर्व" का अर्थ पृथ्वी की सार्वभौमिक आत्मा है जो सब प्रकार के जीवन और वृद्धियों का कारण है शब्द का अक्षरार्थ "गौ की आत्मा" है। यहाँ उपमालङ्कार है क्योंकि पृथ्वी की तुलना की गई है। उसको काटने और बांटने से पृथ्वी में हल लगाने का अर्थ लिया जाता है। अहुरमज़दा और स्वर्गीय सभा ने जो आदेश दिया है उसका मतलब यह है कि धरती को जोतना चाहिये। अतएव वह खेती के काम को धार्मिक बतलाता है।"

हम पाठकों का ध्यान उपरिलिखित वाक्य की ओर विशेष रूप से आकर्षित करते हैं। क्या वह वही बात नहीं जो स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वैदिक 'गोमेध' के विषय में कही है ?

एक पाद-टिप्पणी डॉक्टर हॉग लिखते हैं कि 'संस्कृत में गौ के दो अर्थ हैं–गाय और धरती। यूनानी शब्द Ge (जो Geography जुगराफिये शब्द में मौजूद है) और पृथ्वी के अर्थ में प्रयुक्त होता है इसी शब्द (गौ) का रूपान्तर है। यह बड़े महत्व की बात है कि संस्कृत और जन्द दोनों भाषाओं में 'गो' शब्द के गाय और धरती दो अर्थ होते हैं। दशवें अंश में ज़रदुस्त के ईश्वर की ओर से भेजे जाने के सम्बन्ध में हम पारसियों की प्राचीन कथा का उल्लेख कर चुके हैं। गाय की आत्मा ने (या डॉक्टर हॉग की व्याख्यानुसार पृथिवी की आत्मा ने) मनुष्यों के अत्याचार से दुःखित होकर अपने कातर शब्द को स्वर्ग तक किस प्रकार पहुँचाया और किस

1. देखो सत्यार्थप्रकाश, ११ समुल्लास, पृ० ३०५
2. Haug's Eaays, p. 148

प्रकार अहुरमज़दा ने उसे सुनकर ज़रदुस्त को अपनी ओर से दूत, नबी और मनुष्यों के लिये उपदेशक नियुक्त किया। पाठकगण ! इसकी तुलना भागवत् की उस कथा से करना चाहेंगे कि कलियुग के आरम्भ में पृथिवी गाय का रूप धारण कर किस प्रकार विष्णु भगवान् के समीप गई और उनसे दया के लिये विनती की, और किस प्रकार विष्णु ने मनुष्य-देह धारण कर मर्त्य-लोक में आ उसके दुःख दूर करने की प्रतिज्ञा की। इसमें सन्देह नहीं कि इन दोनों कथाओं में से ज़न्दावस्ता की कथा पुरानी है। परन्तु हम जो बात पाठकों के हृदय पर अङ्कित करना चाहते हैं वह यह है कि संस्कृत और ज़न्द दोनों भाषाओं में गाय और पृथिवी दोनों का 'गो' नाम होने से केवल भाषा विषयक सम्बन्ध ही नहीं प्रत्युत विचार का भी सम्बन्ध है। इन दोनों की संयोजक-शृङ्खला निश्चय ही कृषिकर्म है, जिसके लिये भूमि और गाय दोनों ही आवश्यक है। पाठकों को गौ की आत्मा की उस अन्तिम प्रार्थना का स्मरण होगा जो उसने अहुरमज़दा से की थी—"इसलिये तुम मुझे खेतों को अच्छी तरह जोतना सिखाओ जो मेरी भलाई की एकमात्र आशा है।" डॉक्टर हॉग लिखते हैं पारसी धर्म खेती को धार्मिक कृत्य बतलाता है। यदि पाठकगण वेदों की ओर आवें तो देखेंगे कि उनमें भी कृषि-कर्म को ऐसा ही पवित्र मानने की शिक्षा दी गई है[1]। पाश्चात्य विद्वानों के लिये इसमें कोई अचरज की बात नहीं है क्योंकि उनके मतानुसार 'आर्य' शब्द ही जिससे पारसी और हिन्दू दोनों के पुरखा अपने को पुकारते थे (Earth) (अर्थात् पृथ्वी) शब्द से सम्बन्ध रखता है, वे सभ्य होने के कारण खेती करते थे और खेती पर ही उनकी जीविका निर्भर थी, जबकि प्राचीन काल की दूसरी जातियाँ साधारणतया असभ्य होने के कारण गृह-हीन दशा में फिरती थीं, जिनकी जीविका विशेषकर शिकार से होती थी।

हिन्दुओं की गाय के लिये प्रतिष्ठा प्रसिद्ध है। यह भी निश्चित है कि प्राचीन काल के पारसी लोग भी उसका बहुत आदर करते थे तो फिर क्या यह कहना अयुक्त नहीं कि गोमेध का अर्थ गो वध है जबकि भाषा और भाव दोनों का समुचित विचार रखते हुये उसका अर्थ हम धरती का जोतना कर सकते हैं। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि जहाँ पश्चिमी विद्वान्, डॉक्टर हॉग कृत उपर्युक्त पारसी यज्ञ की व्याख्या के विरुद्ध कुछ नहीं

1. जो पाठक देखना चाहें ऋग्वेद मं० १० सूक्त १०१ मन्त्र ३ से ७ तक देख सकते हैं।

कहते वहाँ वैसे ही यज्ञ की तद्रूप व्याख्या करने के लिये स्वामी दयानन्द सरस्वती का उपहास करने वाले लोगों की कमी नहीं है।

११—कुछ छोटी समानताएं

अब हम दोनों धर्मों की कुछ छोटी-छोटी समानताएँ दिखाते हैं :—

(क) वैदिक और ज़रदुश्ती दोनों ही फिलासफ़ियों में कर्म तीन प्रकार के माने गये हैं, अर्थात् मानसिक, वाचिक और कायिक। यजुर्वेद के ब्राह्मण से हम नीचे एक वचन देते हैं :—

यन्मनसा ध्यायति तद् वाचा वदति यद् वाचा व,
दति तत् कर्मणा करोति।

(क) मनुष्य जो विचार करता है वही वाणी से कहता है, जो वाणी से कहता है वही कर्म से करता है।[1]

ज़रदुश्त की फ़िलासफ़ी के विषय में डाक्टर हॉग लिखते हैं कि—"उसके फ़िलासफ़ी सम्बन्धी विचार मन, वचन और कर्म के त्रिकोण में घूमते थे।"[2]

वे फिर लिखते हैं :—

"हुमतम् (अच्छी तरह सोचा हुआ) हुख्तम्[3] (अच्छी तरह से कहा हुआ) हूश्तम्[3] (अच्छी तरह किया हुआ)" ये सब ज़रदुश्ती सदाचार के मूल सिद्धांत हैं, और बारम्बार[4] उनका अनेक स्थान पर वर्णन आता है"। यहाँ ज़न्दावस्ता के एक दो वचन उद्धृत करके इस बात को लिखते हैं :—

"अच्छा सोचा हुआ, अच्छा कहा हुआ और अच्छा किया हुआ इन शब्दों द्वारा।"[5]

---

1. इसी प्रकार मनु जी ने भी कर्मों का विभाग मानस, वाचिक और कायिक तीन प्रकार का किया है। देखो मनु. अ. १२। ३—९।
2. देखो Haug's Essays, p. 300
3. हुमतम् — (संस्कृत) सुमतम्
   हुख्तम् — ,, सूक्तम्
   हूश्तम् — ,, सुकृतम्
4. ऐसे ही संस्कृत में मनसा वाचा कर्मणा शब्दों का प्रयोग अनेक स्थानों पर आता है।
5. यास्न १९। १६।

"अच्छा सोचा हुआ क्या है ? शुद्ध मन (विचार)। अच्छी तरह कहा हुआ क्या है ? उत्तम वचन। अच्छी तरह किया हुआ क्या है ? जिसे उच्च कोटि के पवित्र आदमी करते हैं।"[1]

(ख) वेद पढ़ने वालों ने सोमलता का नाम अवश्य सुना होगा। इस लता का वेदों तथा प्राचीन वैदिक साहित्य में बहुत कुछ माहात्म्य वर्णन किया गया है। यह निश्चित नहीं की सोम औषधि सम्बन्धी जड़ी बूटियों के समुदाय को बोध कराने वाली संज्ञा है, अथवा किसी बूटी विशेष का नाम है। यदि पिछली बात ठीक मानी जाय तो इस प्रकार की बूटी का अब तक पता नहीं लगा और न वर्त्तमान बूटियों में से ही किसी का नाम है। प्रो० मैक्समूलर २५ अक्टूबर सन् १८८४ के Academy पत्र में लिखते हैं :—

"धर्म सम्बन्धी कृत्यों की प्राचीनतम पुस्तकों अर्थात् सूत्र तथा ब्राह्मण ग्रन्थों से यह बात मानी गई है कि असली सोम का मिलना बहुत कठिन है और उसके स्थान में अन्य वस्तु काम में लाई जा सकती हैं। यह लिखा है कि जब वह मिल सकती थी तब जंगली लोग उसे उत्ताराखण्ड से लाया करते थे। उस समय भी वह विशेष प्रयत्न करने पर ही मिल सकती थी।"[2] वे फिर लिखते हैं कि—"रूसी और अंग्रेजी दूत निरपेक्ष भूकटिबंधों के उत्तरी देशों में बड़ा उपयोगी काम करेंगे, यदि वे अपने भ्रमण में सोमलता के सदृश पौधों को खोजते रहें।" प्रोफेसर साहब अन्त में लिखते हैं कि "जिस स्थान में उपयुक्त पौधा अपने-आप उगता पाया जायगा उसको आर्य जाति अथवा कम से कम उन लोगों के पुरुखाओं का निर्भयता-पूर्वक उत्पत्ति-स्थान बताया जा सकेगा जो दक्षिण में आकर संस्कृत या ज़न्द भाषा बोलते थे।"[3]

असली सोमलता चाहे जो हो परन्तु हमारा उद्देश्य यहाँ यह सिद्ध करना है कि ज़न्दावस्ता में होम[4] की सोम के समान ही प्रशंसा की गई है।

---

1 यास्न १९। १९।

2 देखो Zoroastrianism in the Light of Theosophy. पृ. ९८-९९ में 'पवित्र होम (सोम) लता' नसरवान जी एफ. बेलमोरिया लिखित व्याख्यान।

3 देखो पृष्ठ ९ का फुट-नोट।

4 जैसा हम पहले लिख चुके हैं संस्कृत सकार का जन्द या फारसी में हकार हो जाता है, इसी अध्याय के अंश एक में शब्द समूह (१) देखो।

अब हम ज़न्दावस्ता के कुछ वर्चन उद्धृत करके यह दिखावेंगे कि जो भाव ज़न्दावस्ता में प्रकट किये गये हैं वे सोमलता सम्बन्धी वैदिक वर्णन से बहुत समानता रखते हैं।

"हे होम! मैं तुझसे जो मृत्यु को दूर मार भगाता है यह दूसरा आशीर्वाद माँगता हूँ अर्थात् शरीर का निरोग होना (उस आनन्दमय जीवन को प्राप्त करने के पूर्व), हे होम! तू मृत्यु को दूर भगाता है अतएव मैं तुझसे तीसरा आशीर्वाद अर्थात् दीर्घ जोवन चाहता हूँ।"[1]

"हे पीतवर्ण होम, मैं तुझ में अपने वचनों से ज्ञान, सामर्थ्य, विजय, स्वास्थ्य, आरोग्य, उन्नति, वृद्धि, सारे शरीर का तेज और प्रत्येक प्रकार के विषय को समझने की बुद्धि स्थापित करता हूँ। मैं तुझ में (अपने वचन से) वह शक्ति स्थापित करता हूँ जिसके द्वारा मैं संसार भर में स्वेच्छापूर्वक विचर सकूँ, दुखों की समाप्ति करता हुआ और (अच्छे विश्व के शत्रुओं की) नाशकारिणी शक्ति को नष्ट करता हुआ।"[2]

अब हम ऋग्वेद के कुछ मन्त्र उद्धृत करते हैं :

सना च सोम जेषि च पवमान महि श्रवः। अथा नो वस्यसस्कृधि॥
सना ज्योतिः सना स्वर्विश्वा च सोम सौभगा।
अथा नो वस्यास्कृधि॥
सना दक्षमुत क्रतुमप सोम मृधो जहि। अथानो वस्यसस्कृधि॥

ऋग्वेद १। ४-३

हे पवित्र सोम! तू बड़ा पुष्टिकारक भोजन है। हमें कृपया (नीचे लिखी) वस्तुएँ प्रदान कर। हमें विजयी और हर्षित कर।

हे सोम! हमें प्रकाश (देदीप्यमान बुद्धि) दो। हमें आनन्द दो, हमें समस्त उत्तम वस्तुएँ दो और हर्षित करो।

हे सोम! हमें बल, बुद्धि दो, हमारे शत्रुओं को दूर भगाओ और हमें हर्षित करो।

कुछेक पाश्चात्य विद्वान् जो यह सिद्ध करने की चिन्ता में रहते हैं कि आर्य लोग मांस-मदिरा के सेवन से घृणा नहीं करते थे, सोम को एक

1. होम यश्त-यास्न ९।
2. होम यश्त १७।

मादक पौधा और उसके रस को एक प्रकार का मादक द्रव्य बताते हैं। वेद और ज़न्दावस्ता दोनों में सोम या होम के नाम से जो कुछ कहा गया है, उससे ऊपर लिखा विचार मिथ्या हो जाता है। ज़न्दावस्ता के विद्वान् अनुवादक डारमेस्टेटर ने ठीक लिखा है कि– "सोम या होम के अन्तर्गत समस्त प्रकार की वनस्पतियों की जीवन-शक्ति समावेशित हैं।[1] जन्दावस्ता में होम को "औषधियों का राजा" कहा गया है और यही नाम उसके लिये वेदों में प्रयुक्त हुआ है।[2]

अब इसमें कोई शंका नहीं रही कि सोम आयुर्वेद से सम्बन्ध रखने वाली बूटी का नाम है। प्रोफ़ेसर मैक्समूलर के कथानुसार यह सम्भव है कि सोम भारतवर्ष में न होकर उत्तर दिशा के किसी अज्ञात देश में पैदा होता हो। उसकी पहचान भूल जाने तथा अनभिज्ञता के कारण और असली रूप छिप जाने से कालचक्र ने उसके चारों ओर पवित्रता का मण्डल लगा दिया है। जन्दावस्ता में उसे अमरत्व देने वाली कहा गया और जब ज़रदुस्तियों ने पुनरुत्थान का सिद्धान्त स्थिर किया तो इसी होम या सोम के द्वारा मृतकों में जीवन संचार किया गया। फिर इसी सोम के दो भेद पहला सफेद होम और दूसरा दुःख रहित पौधा है, जिनका बाइबिल में ज्ञानतरु और जीवनतरु रूप से वर्णन है और जिनकी बाइबिल के स्वर्ग में कल्पना की जाती है। पिछले अध्याय के आठवें अंश में इस विषय पर हम डा० स्पीगल की सम्मति उद्धृत कर चुके हैं और प्रोफ़ेसर मैक्समूलर के वचन उद्धृत कर के यह दिखला चुके हैं कि वे भी सोम वा होम और बाइबिल के जीवन-तरु में समानता को स्वीकार करते हैं। अब हम मैडम ब्लैवस्टकी की सम्मति उद्धृत करते हैं—'सामान्य शब्दों में सोम ज्ञान वृक्ष के फल का नाम है। ईर्षालु एलोहिम ने आदम, हव्वा अथवा यहुवी से इन्हीं को न खाने के लिये कहा था, क्योंकि 'कहीं ऐसा न हो कि आदमी उनके समान हो जाय।'[3]

सारांश

हम दिखला चुके हैं कि ज़रदुश्ती सिद्धान्तों और कृत्यों में तथा वैदिक सिद्धान्त और कृत्यों में कितना आश्चर्यजनक सादृश्य है। हमने यह भी

1. जन्दावस्ता भाग १ भूमिका पृ. ६९।
2. देखो ऋग्वेद १०। ९७। १८-२२।
3. देखो Secret Doctrine, Vol II, pp. 498-499

दिखाया है कि ज़न्दावस्ता की भाषा और छन्दों में वैदिक भाषा व छन्दों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह भी बताया गया है कि प्राचीन समय में दोनों धर्मों के अनुयायी अपने को आर्य नाम से पुकारते थे। क्या कोई पल भर के लिये भी कह सकता है कि ये सादृश्य और समता आकस्मिक हैं? इस प्रकार का न तो कभी किसी का विचार हुआ न हो सकता है। हमें इसका कारण बताने के लिये नीचे लिखी तीन बातों में से एक-न-एक को अवश्य मानना पड़ेगा :—

१– वेदों के धर्म और भाषा ज़न्दावस्ता के धर्म और भाषा से लिये गये हैं।

२—वेद और ज़न्दावस्ता की भाषा और धर्म का मूल स्रोत एक ही है। दोनों ही किसी प्राचीनतम और लुप्तप्रायः भाषा और धर्म से निकले हैं।

३—ज़न्दावस्ता की भाषा और धर्म वैदिक भाषा और धर्म से निकले हैं।

संख्या एक में जो बात कही गई है उसे आज तक किसी ने नहीं कहा। समस्त विद्वनों ने, जिनकी सम्मति इस विषय पर विश्वस्त समझी जा सकती है, वेदों को ज़न्दावस्ता से पुराना माना है। अब ऊपर की शेष दो बातों में से किसी एक को स्वीकार करना होगा। हम तीसरी बात को मानते हैं। उसे युक्तियों से सिद्ध करने के पहले कुछेक प्रमाण दिये जाते हैं।

वेद और ज़न्द भाषा में आश्चर्यजनक समानता सिद्ध करने के लिये विलियम जोन्स की सम्मति पूर्व ही उद्धृत की जा चुकी है।

सर विलयम लिखते हैं कि—"कम से कम ज़न्द भाषा संस्कृत की एक शाखा थी। यह कदाचित् उसके उतनी ही निकट थी जितनी प्राकृत अथवा अन्य प्रचलित भाषाएँ जो भारतवर्ष में दो सहस्र वर्ष पूर्व बोली जाती थीं।*

डारमेस्टेटर अपने ज़न्दावस्ता के अनुवाद (Sacred Book of the East Series) में इस विचार की पुष्टि करते हुए कई अन्य प्रमाणों को प्रस्तुत करते हैं, यद्यपि वे स्वयम् पहली बात को ही मानने वाले हैं। इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि सर विलियम जोन्स आदि पुरुषों की सम्मति दोनों भाषाओं के सम्बन्ध पर है, दोनों धर्मों पर नहीं। डारमेस्टेटर फ़ादर पोलीडी सेन्ट बारथेलेमी (Father Paulo de Saint Barthe-

* Asiatic Researches, 11, P. 3

lemy) का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि "वह इस परिणाम पर पहुँचे कि अति प्राचीन काल में संस्कृत भाषा फ़ारस और भारतवर्ष में बोली जाती थी और उससे ज़न्द का जन्म हुआ।"[1] डारमेस्टेटर आगे कहते हैं—"१८०८ ई० में जान लिडिन John Lydon ज़न्द को पाली भाषा के समान एक प्राकृत की शाखा समझते थे। एर्सकीन Erskine की दृष्टि में ज़न्द संस्कृत भाषा की शाखा थी जिसे पारसी धर्म के संस्थापक ने भारतवर्ष से लिया, परन्तु यह भाषा फारस में कभी नहीं बोली गई।" वे पीटर वोन बोहलन (Peter Von-Bohlen) के विषय में कहते हैं कि उसके अनुसार (ज़न्द) प्राकृत भाषा की शाखा है। जैसा कि जोन्स लीडन और एर्सकीन का कथन है।"[2]

निम्नलिखित युक्तियों द्वारा हम इस बात को पर्याप्त रूप से सिद्ध कर देंगे कि ज़रदुश्ती मत वैदिक धर्म से निकला है।

(१) ज़रदुश्तु ज़न्दावस्ता में एक पुराने ईश्वरीय ज्ञान का वर्णन करते हैं—देखते हैं कि गाथाओं में (जो ज़न्दावस्ता का सबसे पुराना भाग है) एक प्राचीन ईश्वरीय ज्ञान की ओर संकेत किया गया है और सोश्यन्त, अथर्व तथा अग्नि के पुरोहितों की बुद्धि की प्रशंसा की गई है। यह अपनी मण्डली को अंगिरा की प्रतिष्ठा और सम्मान करने की ओर प्रेरित करता है अर्थात् वैदिक मन्त्रों के अंगिरा जो प्राचीन आर्य लोगों के पूर्वज थे और जो अन्य पिछले ब्राह्मण परिवारों की अपेक्षा ज़रदुश्त से पूर्ववर्त्ती पारसी धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते थे। इन अंगिराओं का वर्णन अथर्वण अथवा अग्नि-पुरोहितों के साथ प्रायः कई स्थलों पर किया गया है और दोनों वैदिक साहित्य में अथर्ववेद के कर्त्ता माने गये हैं। (जिनको हम ऋषि कहेंगे) यह वेद अथर्वाङ्गिरा अथवा अथर्व अंगिराओं का वेद कहलाता है।"[3]

डाक्टर हॉग फिर कहते हैं :—

स्वयम् अपने ही पुस्तक में ज़रदुश्त अपने को अहुरमज़ादा का प्रेरित किया अर्थात् मन्त्रद्रष्टा दूत कहते हैं।[4]

1 Asiatic Researches, 11, p. 3

2 Zend Avesta, Part I, Intord. p. XXL

3 Haug's Essays, p. 594.

4 वही पुस्तक पृ० २६७।

(२) होमयश्त (ज़न्दावस्ता का एक अध्याय) में सोम यज्ञ करने वाले चार मनुष्यों की गणना की गई है जो ज़रदुस्त से पूर्व वैदिक कृत्य सोमेष्टि या सोमयोग को किया करते थे। ज़रदुस्त के बाप के अतिरिक्त शेष सब नाम वैदिक साहित्य में आते हैं।

"पहला पुरुष जिसने सोमयज्ञ रचा विवह्वत था। उसके एक यम लड़का पैदा हुआ, जो तेजयुक्त, सुशील और परम प्रतापी था तथा जो मनुष्यों में सूर्य को सबसे अधिक देख सकता था। दूसरा आथ्व्य था, जिससे श्रैतान पैदा हुआ और जिसने अज़िदाहक सर्प को मार डाला। तीसरा थ्रित था, जिसके दो बेटे हुए। चौथा स्वयम् ज़रदुस्त का बाप पौरुषास्प था। होम ज़रदुस्त से कहता है—हे पवित्र ज़रदुस्त तू उसके घर शैतान के विरुद्ध लड़ने के लिये पैदा हुआ था। तेरा अहुर पर पूरा विश्वास है और तू आयान् बीज अर्थात् आर्य देश में प्रसिद्ध है"[1]

अब इनमें से पहले दो अर्थात् विवंह्वत और उसका बेटा यम वही हैं जो वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध हैं। ज़न्दावस्ता में यम को राजा कहा गया है और उसका नाम यमखशैत (संस्कृत—क्षत्र = राजा) बताया गया है, जो फ़रदौसी के शाहनामे से जमशैद हो जाता है। डॉक्टर हॉग इस परम्परागत कथा का पता वैदिक साहित्य में लगाते हुए कहते हैं कि यमखशैत, जमशैद और यमराज[2] एक ही नाम और पद है। और यम एक ही है। खशैत का अर्थ राजा है दोनों के पारिवारिक नाम एक ही हैं। ज़दावस्ता में विवन्हु या विवंह्वत का बेटा और वेद में विवस्वत् का पुत्र दोनों एक ही बात है।"[3]

ज़न्दावस्ता के अनुसार यम सबसे पहला नबी भी है। अहुरमजदा कहता है कि— हे पवित्र ज़रदुस्ती तुझसे पूर्व सुन्दर यम सबसे पहला मनुष्य था, जिससे मैंने वार्तालाप किया, जिसको मैंने ज़रदुस्ती धर्म-शास्त्र की शिक्षा दी।"

1. "होम यश्त Quoted in Essay on the Sacred Homa in Zoroastrianism in the Light of Theosophy."
2. जैसा हम पूर्व कह चुके हैं जन्द 'खशैत' संस्कृत 'क्षत्र' शब्द से बना जो वेदों में राजा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अर्वाचीन संस्कृत में क्षत्र शब्द व्यवहृत नहीं होता परन्तु क्षत्रिय (राजकीय पुरुष या योद्धा) 'क्षत्राद् घः' से निकलता है।
3. Haug's Essays, p. 277. १. फर्गर्द २ । २ ।

ज़रदुस्त का दूसरा पूर्ववर्ती जो सोम यज्ञ का करने वाला कहा जा सकता है—आथ्व्य और उसके पुत्र थ्रतान (शाहनामे का फरीदुन) आप्त्य और त्रैतान से मिलते हैं। डॉक्टर हॉग कहते हैं कि वैदिक त्रैतान में थ्रेतान (फरीदुन) सुलभता से पहिचाना जा सकता है। उसके बाप का नाम आथ्व्य था जो त्रित के आप्त्य से जिसका प्रयोग प्रायः वेदों में हुआ है पूर्णरूप से समानता रखता है।[1]

तीसरा थ्रित और वैदिक त्रित एक ही हैं। डॉक्टर हॉग कहते हैं—

"ज़ादावस्ता के साम परिवार का (जिसमें महावीर रुस्तम पैदा हुआ) थ्रित सबसे पहिला हकीम है जो अहरिमन द्वारा पैदा किये रोगों की चिकित्सा करता है। यह विचार भी वेदों में त्रित के सम्बन्ध में पाया जाता है। अथर्ववेद (६, ११३, १) में कहा गया है कि वह मनुष्यों के रोगों को दूर करता है··· । दीर्घ जीवन प्रदान करता है। प्रत्येक बुरी वस्तु शान्त होने के लिये उसके पास भेजी जाती है। (ऋ० ७, ४७, १३) ज़न्दावस्ता में उसके इस गुण का संकेत साम अर्थात् शान्तिदाता के नाम से किया गया है।"

यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि ज़रदुस्त के पिता के नाम को छोड़ कर उसके शेष समस्त पूर्वजों के नामों का पता वैदिक साहित्य में लग सकता है। उपरोक्त गणना स्पष्ट रूप से उस वैदिक अलंकार वा कथा की स्मृति स्वरूप है जो ज़रदुस्त के समय में ईरानियों के यहाँ प्रचलित थी।

(३) ज़न्दावस्ता में अथर्ववेद की स्पष्ट और अचूक प्रतीत है। हम उसको उसी प्रकार उद्धृत करते हैं जिस प्रकार हॉग ने उसे उद्धृत किया।

"होम ने किरसानी को राजसिंहासन से उतार दिया उसकी अधिकार-लिप्सा इतनी बढ़ गई कि उसने कहा कि मेरे साम्राज्य की समृद्धि के लिये अथर्व लोग (अग्नि पुरोहित) "अपाम अविष्ठिश" (पानी के समीप) का जाप न करने पावेंगे। वह सब समृद्धिशालियों को नष्ट-भ्रष्ट करता तथा उनका नाश करके उन्हें पददलित करता था।"

1. Haug's Essays, p. 277.
2. Haug's Essays, p. 278.

एक नोट में डाक्टर हॉग कहते हैं कि प्रकरण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि किरसानी अथर्व धर्म के किसी शत्रु का नाम है और इसमें सन्देह नहीं कि वह वैदिक ग्रन्थों का कृशानु है।

दूसरे नोट में विद्वान् डाक्टर साहब जन्दावस्ता के उपर्युक्त वचन में आए हुए अपाम अविष्टिश वाक्य के सम्बन्ध में लिखते हैं—

स्पष्ट रूप से यह शब्द अथर्ववेद संहिता के पारिभाषिक नाम रूप है। कई हस्तलिपियों में इस वेद का "शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये" मन्त्र से, जिसमें ऊपर शब्द आते हैं, आरम्भ होता है। छपे हुए संहिता पुस्तकों के आरम्भ में इस मन्त्र को छोड़ दिया गया है, परन्तु १-६-१ में वह मन्त्र दिया गया है और उसी स्थान पर ऊपर लिखी हस्तलिपियों में भी आता है। दो सहस्र वर्ष पूर्व अथर्ववेद का इसी मन्त्र से प्रारम्भ होता था। यह बात इससे भली भाँति सिद्ध होती है कि पतंजलि मुनि चारों वेदों के प्रारम्भिक मन्त्रों को अपने महाभाष्य की भूमिका में दर्ज करते हुए "शन्नो देवीरभिष्टय"[1] अथर्ववेद[2] के लिये लिखे हैं।[3]

अथर्ववेद का यह स्पष्ट और निर्विवाद प्रतीक इस बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि वेदों का हाल जन्दावस्ता से पूर्व का है।

(४) यह सिद्ध किया जा सकता है कि प्राचीन पारसी लोग भारतवर्ष से जाकर ईरान वा फ़ारिस देश में बसे थे।

प्रोफ़ेसर मैक्समूलर स्पष्ट रूप से लिखते हैं—"अब यह बात भौगोलिक साक्षी द्वारा भी सिद्ध हो सकती है कि फ़ारिस में बसने से पूर्व पारसी लोग भारतवर्ष में रहते थे। जरदुश्त और उनके पुरखाओं का वैदिक काल में भारतवर्ष से जाना उसी प्रकार स्पष्ट रूप से सिद्ध हो सकता है जिस प्रकार मसीलिया निवासियों का यूनान से जाना।"[4]

---

1. यह वही मन्त्र है, जिसे सब आर्य जानते हैं—"शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये शंयोरभिस्रवन्तु नः" इसमें से जिन शब्दों के नीचे रेखा खिंची हुई है वे जन्दावस्ता में बहुत थोड़े हेर फेर के साथ आते हैं।

2. पाश्चात्य विद्वानों का निश्चय है कि वेद विविध समय में लिखे गये और अथर्ववेद चारों वेदों में से सबसे पीछे का है। यदि अथर्ववेद ही जन्दावस्ता से पुराना सिद्ध कर दिया जाय तो यह परिणाम स्वतः निकल आता है कि शेष तीन वेद जन्दावस्ता से और भी अधिक पुराने हैं।

3. Haug's Essays, p. 182.

4. Chips from a German Workshop Vol 1, p 235.

१८

विद्वान् प्रोफ़ेसर ने अपने "भाषा विज्ञान" सम्बन्धी व्याख्यान में इसी बात को और भी स्पष्ट शब्दों में कहा है—

"पारसी लोग उत्तरीय भारत में आकर बसे थे। कुछ काल तक वे उन लोगों के साथ रहे जिनके पवित्र गायन को अब भी हम वेदों में पाते हैं। फूट हो जाने पर पारसी लोग पश्चिम की ओर एराकेशिया और फ़ारिस की ओर चले गये, उन्होंने नवीन नगरों और उन नदियों के जिनके किनारे वे रहे वही नाम रक्खे जिनसे वे अच्छी तरह परिचित थे। ये नाम उन स्थानों का स्मरण दिलाते हैं जिनको वे छोड़कर आये थे। फ़ारसी अक्षर 'ह' संस्कृत के 'स' का बोध कराता है इसलिए हरयू' शब्द से 'सरयू' होता है। भारतवर्ष की पवित्र नदियों में से एक का नाम सरयू है, जिसका वेदों में भी वर्णन है, जिसे अब सरजू कहते हैं।"[1]

प्रोफ़ेसर मैक्समूलर की बताई सरयू और हरयू नदियों के अतिरिक्त फ़ारिस के बहुत से अन्य स्थानों के नामों का पता संस्कृत के नामों से लग सकता है। जैसे—

(क) Euphrates जिसे साधारणतया फ़रात कहते हैं फ़ारिस की एक प्रसिद्ध नदी का नाम है। इसको व्युत्पत्ति "भारत" शब्द से हो सकती है। संस्कृत में भारत इस देश का ही नाम नहीं प्रत्युत यहाँ के निवासियों का बहुत पुराना नाम है। हम हिन्दुस्तान के लिये अब तक भारत[2], भारतवर्ष अथवा भरतखण्ड आदि का शब्द प्रयोग करते हैं। जिन्होंने संस्कृत भाषा का प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ महाभारत पढ़ा है, वे जान सकते हैं कि आरम्भ में यह शब्द मनुष्य के लिये व्यवहृत होता था। 'महाभारत' शब्द का अर्थ ही (महा) बड़े (भारत) महाराज भरत के पुत्रों का इतिहास है। भारतवर्ष के निवासी जो अपने को भारत कहते थे उस नदी (फ़रात) के किनारे जाकर बसे और उसका नाम अपने नाम पर रक्खा। यह बात कि संस्कृत

1. Lectures on the Science of Language, Vol. I, p. 235.
2. भारत भरत की अपत्यवाचक सज्ञा है, जिसका अर्थ है भरत के पुत्र। भारत प्राचीन भारत में एक प्रसिद्ध राजा हुआ है, जिसने यह नाम पहले अपनी प्रजा और फिर अपने देश को दिया। भरत के माता-पिता शकुन्तला और दुष्यन्त थे। इनकी सुप्रसिद्ध कथा महाकवि कालिदास कृत शकुन्तला नाटक में वर्णित है।

का 'भ' फारसी 'फ' या 'फ़' से बदल जाता है वैदिक संस्कृत के गृभ[1] ग्रहगे धातु से (जो फ़ारसी में गिरिफ़्त हो जाता है, साफ हो जाती है।

(ख) बेबीलन फ़ारिस के एक प्रसिद्ध नगर का नाम है। यह फ़रात के किनारे बसा हुआ है। यह किसी समय एक बड़े साम्राज्य की राजधानी थी। इसका पता भूपालान से जिसका अर्थ भूपाल निकासी है चल सकता है। सम्भव है भारतवर्ष से आकर लोगों ने इस नगर को बसाया हो।

(ग) तिगरी नदी के किनारे रहने वाले कौसी लोग सम्भवतया भारतवर्ष के प्राचीन नगर काशी या बनारस से जाकर बसे थे।

(घ) ईरान, आर्य्यान शब्द का अपभ्रंश है। इस देश का यह नाम उन आर्य्य लोगों ने रक्खा था जो उसमें आकर रहे थे।

यह दिखाने के लिये कि एक मत दूसरे से निकला है, तीन बातें सिद्ध करनी होंगी। अर्थात् (१) विचारों और सिद्धान्तों की समानता, (२) एक की अपेक्षा दूसरे मत की प्राचीनता, (३) उनमें परस्पर सम्बन्ध का मार्ग। अब वैदिक और पारसी मत में सिद्धान्तों की सदृसता इतनी स्पष्ट है कि कोई मनुष्य इसमें सन्देह नहीं कर सकता। ज़न्दावस्ता की अपेक्षा वेदों का समय अधिक पुराना है, यह बात भी स्पष्ट रीति से सिद्ध की जा चुकी है। जब यह सिद्ध हो गया कि ईरानी लोग भारतवर्ष से ही जाकर वैदिक काल में बाहर बसे तो सम्बन्ध का मार्ग भी स्पष्ट हो जाता है। पिछले समय में भी परस्पर गमनागमन और सम्बन्ध का मार्ग बताना कठिन नहीं। नामे-ज़रदुस्त[2] में लिखा है कि व्यास जी फ़ारिस को गये और वहाँ ज़रदुस्त से शास्त्रार्थ किया। ईश्वर ज़रदुस्त से कहता है—"व्यास नामक एक बुद्धिमान् ब्राह्मण जिसके समान पृथ्वी पर कोई न होगा, भारतवर्ष से आवेगा। वह तुझ से यह प्रश्न करना चाहेगा कि विश्व का रचयिता केवल ईश्वर क्यों नहीं है?" (६५-६६)

1. आधुनिक संस्कृत में इस धातु का रूप ग्रह और वैदिक संस्कृत में गृभ होता है।
2. यह पुस्तक जन्दावस्ता से भले ही पिछला हो परन्तु जरदुश्त का रचा बताया जाता है। असली बात यह है कि इस नाम के कई पुरुष हुए हैं,—जैसे ब्रह्मा, वसिष्ठ, नारद और सम्भवतया व्यास नाम के भी अनेक ऋषि हुये हैं। दबिस्तान में 13 जरदुश्तों का वर्णन है उनमें सबसे पहला स्पितामा जरदुश्त था जो पारसी मत का प्रवर्तक माना जाता है।
स्पितामा शब्द के कारण वह दूसरे नामों से आसानी से पहिचाना जा सकता है।

उससे कहना कि ईश्वर ने बिना किसी की सहायता के प्रथम मन वा बुद्धि उत्पन्न की और इस बुद्धि द्वारा ही भौतिक) संसार पैदा किया। (६७)

प्रथम उत्पन्न हुई बुद्धि की सहायता लेने के कारण परमेश्वर के कर्तृत्व पर किसी प्रकार का दोष नहीं आ सकता। (६८)

दूसरा प्रश्न होगा कि अग्नि आकाश के नीचे, वायु अग्नि के नीचे, जल वायु के नीचे और पृथ्वी जल के नीचे क्यों है ? (७१)

इसके आगे व्यास के उपर्युक्त प्रश्न का वह उत्तर है जिसके देने के लिये परमेश्वर जरदुस्त को शिक्षा देता है। पाँचवाँ सासान अपनी व्याख्या में लिखता है—"बलख में व्यास जी और गुस्तास्प की भेंट हुई। राजा ने समस्त बुद्धिमान् पुरुषों को निमन्त्रित किया। जरदुश्त भी अपने उपासना-मन्दिर से बाहर आये और व्यास जी ने उनका मत स्वीकार किया।"

यह कथा गुस्तास्प[1] के समय से सम्बन्ध रखती है। गुस्तास्प बैक्ट्रिया का प्रसिद्ध राजा था। कहते हैं कि उसने सन् ईस्वी से ५५० वर्ष पूर्व पारसी मत को राज धर्म बनाया और उसका प्रचार किया। जरदुस्ती मत की उन्नति के लिये वह समय बड़ा महत्वपूर्ण था। व्यास जी का वर्णन बड़े गौरव के साथ किया गया है। अतएव यहाँ सम्भवतया उन्हीं व्यास जी की ओर संकेत है जो वेदान्त-सूत्र के कर्ता और पातञ्जल योग सूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार हुए हैं। पञ्चम सासान का भाष्य उनसे बहुत पीछे का बना हुआ है, इसलिए उसका यह कहना कि व्यासजी ने जरदुस्ती मत स्वीकार किया, ठीक नहीं है।

1. इस राजा के असली नाम का यह रूप पीछे हो गया है। असली नाम विश्तास्प है जो संस्कृत विष्ठाश्व से निकला हुआ है। यूनानी पुस्तकों से यह हिस्टास्पेज Hystaspes नाम से प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध पारसी ग्रन्थकार डाक्टर एस. ए. खापड़िया, एम. डी. एल. आर. सी. पी. के अनुसार विश्तास्प अथवा गुस्तास्प का समय अब से लगभग ३५०० वर्ष पूर्व है (देखो उनकी बनाई Teachings of Zoroaster and the Philosophy of the Parsi Religon, Wisdom of the East Series पृष्ठ २५ से २८ तक)। यह समय प्रायः उतना ही है जितना हिन्दू इतिहास में महात्मा व्यास का बताया गया है।

पारसी ग्रन्थों का यह लिखना कम गौरव की बात नहीं है कि दोनों मतों के दो आचार्य ऐसे समय में मिले जो पारसियों के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण और स्मरण करने योग्य थे।

इसके पीछे भी ज्ञात होता है सासान प्रथम, जिनके ग्रंथों से अनेक बार उद्धरण दिये जा चुके हैं, केवल इस देश में रहते ही न थे प्रत्युत उन्होंने यहाँ किताबें भी लिखी थीं। उनके पुस्तक के ३८ वें अंश में ईश्वर से कहलाया गया है—"तुम धन्य हो क्योंकि मैंने तेरी इच्छाओं को स्वीकार कर लिया है।" इस पर सासान पंचम अपनी टीका करते हैं "यहाँ यह बता देना चाहिये कि सिकंदर के फ़ारिस विजय करने पर दारा पुत्र सासान अपने चाचा से अलग होकर भारतवर्ष गया और यहाँ पवित्रता और ईश्वर-भक्ति में लग गया। ईश्वर उस पर दयालु हुआ इसलिये उसने उसे नबी बनाया।"

इसके आगे सासान पंचम लिखता है कि सासान प्रथम ने अपनी आयु भारतवर्ष में रह कर बिताई। इस प्रकार भारतवर्ष में पारसियों के उस अन्तिम धर्म-ग्रन्थ रचयिता पर जिसके लिखे फ़िलासफ़ी और तर्कशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों से पारसियों की बनाई किताबें बढ़ नहीं सकतीं, "ईश्वरीय दया का संचार हुआ।" इसका तात्पर्य सासान पंचम ईश्वर की ओर से प्रेरणा का प्रकाश होना बतलाते हैं।

इस प्रकार यह बहुत स्पष्ट है कि ज़रदुश्ती मत केवल वैदिक काल में (जब पारसियों के पुरखा भारत से आये थे) वेदों से निकला ही नहीं प्रत्युत उसके उन्नत काल में भी उस पर वैदिक शिक्षा का बहुत प्रभाव पड़ा है। यही कारण है कि वह पारसियों के पिछले धर्म-ग्रन्थों अथवा दसातीर में वर्णित रूप में वैदिक धर्म से बहुत सादृश्य रखता है।

वैदिक और ज़रदुश्ती मत की अत्यन्त समानता पर एक पारसी ग्रंथकार की सम्मति उद्धृत करके हम इस अध्याय को समाप्त करते हैं—"पवित्र वैदिक धर्म और ज़रदुश्ती मत एक ही है। ज़रदुश्ती मत उन दूषकों और मिथ्याविश्वासों के विरुद्ध युद्ध करने के लिये आविर्भूत हुआ, जिन्होंने विशुद्ध वैदिक सत्य पर परदा डाल दिया था तथा पुरोहित और प्रजाघातक राजाओं के स्वार्थसाधनार्थ प्राचीन प्रशस्त धर्म का स्थान हरण कर लिया था। ज़रदुश्त ने प्राचीन समय में वही काम किया जो महात्मा बुद्ध ने उसके पश्चात् किया।"*

---

* Zoroastrism in the Light of Theosophy, p. 63 by Khurshaidji N. Seervai.

इस पर टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। ग्रन्थकार स्वयम् स्वीकार करता है कि ज़रदुश्ती बुद्ध के समान एक आर्य सुधारक थे जिनका उद्देश्य वैदिक धर्म में पीछे से मिलाई मिलावटों को दूर करना था। एक दूसरे पारसी ग्रन्थकार डा० एम० ए० कापडिया भी अपने ग्रन्थ में ऐसे ही विचार प्रकट करते हैं कि ज़रदुश्ती मिशन का उद्देश्य एक ईश्वर का उपदेश करने वाले आर्यों के प्राचीन धर्म को संशोधन करना था (इसको वे स्पष्ट शब्दों में वैदिक धर्म के नाम से नहीं पुकारते) वे लिखते हैं—जो वस्तु आरम्भ में ईश्वर की महिमा का प्रकाश रूप समझी जाती थी, काल की गति से उनको पुरुषवत् मान लिया गया। भक्तों की निर्बल कल्पना ने उन्हें देवता का रूप दे दिया। अन्त में सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर के स्थान में उनकी पूजा होने लगी। इस प्रकार वह प्रथम उच्च कक्षा का तात्विक धर्म अनेक ईश्वरवाद के चक्र में पड़कर अवनत हो गया। मूर्तिपूजा और मन-घड़न्त देव और राक्षस आदि की पूजा करना उसका उद्देश्य बन गया। यही बड़े दूषण थे जिनको दूर करने के लिये हमारे आचार्य ज़रदुश्त ने कष्ट उठाया। उस समय के पुराने मत को अहुर पूजा की प्रारम्भिक पवित्रता की ओर ले जाना उसका मुख्य उद्देश्य था।"[1]

यह सम्भव है कि ज़रदुश्त के प्रादुर्भाव के समय एक ईश्वर की उपासना का उपदेश करने वाला विशुद्ध वैदिक धर्म अवनत होकर बहुत से देवी देवताओं को मानने लगा था और इन्द्र को सब देवों का राजा समझता था। ज़रदुश्त के उपदेश का उद्देश्य इन देवी-देवताओं की पूजा से विरोध करना था। यह स्वाभाविक बात है कि उस समय प्रचलित मत के अनुयायियों और सुधार के समर्थकों मे कुछ वैमनस्य हुआ हो, इससे यह बात समझ में आती है कि जिन देवताओं को आर्य कहाने वाले लोग पूजते थे ज़न्दावस्था में बुरी[2] आत्मा क्यों कहा गया और इन्द्र उनका राजा क्यों माना गया और संस्कृत भाषा में परिवर्तन क्यों हुआ कि ज़रदुश्तियों के ईश्वर का मुख्य नाम असुर (अहुर) राक्षस के अर्थों में व्यवहृत होने लगा।

1. The Teachings of Zoroastrianism and the Philosophy of Parsi Religion, pp. 16—17.
2. फ़ारसी भाषा में 'देव' शब्द के अर्थ अब भी राक्षस या बुरी आत्मा के हैं। 'इन्द्र सभा' नाटक आदि में लाल देव से और काले देव से बहुत पाठक परिचित होंगे।

बहरामयष्ट के नीचे लिखे वचन से पाया जाता है कि ज़रदुश्त ने पशुवध की भी निन्दा की है, जिसको उस समय के वैदिक आर्य यज्ञों में करने लगे थे—"आहुर के बनाये हुए वृत्रघ्न ने यह घोषणा की[1] गौ की आत्मा को मनुष्य से उचित यज्ञ नहीं मिलता क्योंकि[2] अब देव (यज्ञों में) पानी के समान लहू बहाते हैं।"[3] इसमें सन्देह नहीं कि यहां वैदिक आर्य्यों की ओर संकेत है जिनको ज़रदुस्त 'देवयशनी' अर्थात् देव-पूजक कहता था और अपने अनुयायियों को 'मजदायशनी' अर्थात् अहुरमज़दा का उपासक कहता था। इससे अनुमान होता है कि उस समय वैदिक आर्य्यों में यज्ञ में पशु वध करने की प्रथा चल पड़ी थी जो गौतमबुद्ध के समय में भी प्रचलित थी। उन्होंने भी "पानी के समान लहु बहाने" की घोर निन्दा की है। यह बात निर्विवाद है कि पारसी लोग यज्ञों में पशु-वध कभी नहीं करते थे।

प्राचीन और अर्वाचीन समय के इतिहास से इस बात के अनेक उदाहरण मिलते हैं कि जब कभी पुरोहित लोगों की स्वार्थपरायणता, प्रबलता और सर्व साधारण की अज्ञानता तथा धार्मिक उदासीनता एवम् अन्य कारणों से धर्म का ह्रास होता है उस समय किसी ऐसे महात्मा का प्रादुर्भाव होता है जो सत्य और न्याय के प्रति प्रेम और आवेश के दृढ़ उत्साह से प्रेरित होकर सुधार के महाकठिन काम को करता है। जो कार्य ज़रदुश्त को प्राचीन काल में तथा गौतम बुद्ध को पीछे करना पड़ा वही कार्य राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हमारे समय में किया। इन सभी महानुभावों ने अपने-२ विचारों के अनुसार पवित्र वैदिक धर्म के संशोधन का कार्य किया और उसे अवनति के गर्त्त से निकाला जिसमें वह स्वार्थ व अज्ञानान्धकार के कारण पड़ गया था। फिर कुछ ऐसे कारण उपस्थित हो गये (जिनके विस्तार की यहां आवश्यकता नहीं) कि बौद्ध धर्म के समान ज़रदुश्ती मत ने भी एक नवीन मत का रूप धारण कर लिया, परन्तु हम समझते हैं कि यह बात अच्छी तरह सिद्ध की जा चुकी है कि जिन मुख्य सत्य सिद्धान्तों की ज़रदुश्त ने शिक्षा दी, वे महात्मा बुद्ध के समान वेदों पर अवलम्बित तथा उन्हीं से निकले हैं।

1. संस्कृत के समान जन्द में गौ शब्द का अर्थ पृथ्वी और गाय दोनों हैं। यहां पृथ्वी से तात्पर्य है।
2. जैसा पहले कहा जा चुका है देव शब्द का अर्थ जन्द में दैत्य या राक्षस है।
3. जन्द अवस्था, भाग २ पृष्ठ २४५

उपसंहार

हम देखते हैं कि मुसलमानी और ईसाई मत के सिद्धान्त यहूदी मत से लिये गये हैं। ईसाई मत के कुछ उपदेश बौद्ध धर्म से भी लिये गये हैं। यहूदी मत के सिद्धान्त जरदुस्ती मत से निकले सिद्ध हो सकते हैं। जरदुस्ती और बौद्ध धर्म दोनों का पता सीधा वैदिक धर्म तक चलता है। क्या इसी प्रकार वैदिक धर्म का उद्गम किसी दूसरे मत से दिखाया जा सकता है? कदापि नहीं, क्योंकि इतिहास में उससे पुराना और कोई मत नहीं पाया जाता। प्रोफेसर मैक्समूलर जिन्होंने जीवन भर वेदों का अध्ययन किया तथा जिनके समान तुलनात्मक धर्म-विज्ञान ज्ञाता कदाचित् ही कोई विद्वान् हुआ हो, लिखते हैं :—

"केवल वैदिक धर्म ही ऐसा धर्म है जिसकी उन्नति बिना किसी बाहर के प्रभाव के हुई है.... इबरानियों अर्थात् यहूदियों के मत में भी बेबेलियन, फिनीशियन और कुछ पीछे फारस निवासियों के प्रभाव का पता चला है।"[1]

वैदिक धर्म की उत्पत्ति केवल दो प्रकार से बताई जा सकती है। (१) या तो यह मान लिया जाय कि वैदिक ऋषियों पर ईश्वरीय ज्ञान का प्रकाश हुआ। (२) या यह समझना चाहिए कि उन्होंने बिना किसी की सहायता के केवल अपने बुद्धि बल से वैदिक धर्म को रच लिया।

वेदों को ईश्वरीय ज्ञान न मानने वाले ग्रन्थकार भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि ईश्वर सम्बन्धी विचार जो धर्म का प्रधान अंग है मनुष्य के मस्तिष्क में स्वयं नहीं उत्पन्न हो सकता। डॉक्टर फ्लिन्ट Dr. Flint अपने Theism नामक पुस्तक में लिखते हैं:—

"जो लोग आस्तिक हैं परन्तु ईसाई मत या ईश्वरीय ज्ञान को नहीं मानते उनका ईश्वर वही है जिसका अब्राहम, इसहाक और याकूब ने उपदेश किया। इन प्राचीन यहूदी आचार्यों से परम्परागत ऐतिहासिक प्रणाली द्वारा परमेश्वर का ज्ञान हम तक पहुंचा है। हमने उसको उनसे पैतृक सम्पत्तिवत् प्राप्त किया है। यदि वह हम तक इस प्रकार नहीं पहुंचता, यदि हम उस समाज में हुए होते, जिसमें वह फैला हुआ था तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमें उसका स्वयमेव ज्ञान कभी न होता।"[2]

1. India, What can it teach us? Page 129
2. Flint's Theism, p. 19

कुरान में लिखा है कि "प्रत्येक बालक प्राकृतिक धर्म में जन्म ग्रहण करता है, परन्तु उसके माँ बाप उसे यहूदी या ईसाई या पारसी बना देते हैं।" इस सिद्धान्त का वर्णन करते हुए डाक्टर फ्लिन्ट कहते हैं कि "यह बात ठीक नहीं है। कोई बालक प्रकृति के धर्म में उत्पन्न नहीं होता। वह निपट अज्ञान में जन्म ग्रहण करता है। यदि उसे प्रकृति के ऊपर ही छोड़ दिया जाये तो वह उतना धार्मिक सत्य भी न जान सकेगा जितना महाअज्ञानी माता-पिता उसे सिखा सकते हैं।"[1]

जिन पाठकों ने पिछले दो अध्यायों पर विचार किया है उनमें से बहुत से सम्भवतया हमसे इस बात में सहमत होंगे कि परमेश्वर का विचार, जिसकी बाइबिल में शिक्षा दी गई है, ज़न्दावस्ता द्वारा वेदों से लिया गया है और अब्राह्म, मूसा व याकब के पैदा होने से बहुत पहले वैदिक ऋषिगण अनादि एवम् सर्वव्यापक की उपासना करते तथा वैसा ही करने के लिए सबको उपदेश देते थे। अतएव हम डाक्टर फ्लिण्ट के वाक्यों को कुछ आवश्यक परिवर्तन के पश्चात् दुहराने तथा यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं करते कि—"हम में से सब लोगों का परमेश्वर—जो उसे मानते हैं अर्थात् उसका भी जो वेदों को नहीं मानते और उनका भी जो किसी ईश्वरी ज्ञान को नहीं मानते—वही जिसका अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा ने उपदेश किया है। परम्परागत ऐतिहासिक प्रणाली द्वारा बिना किसी रुकावट के इन आदिवैदिक ऋषियों का ज्ञान हम तक पहुँचा। हमने उसको उनसे पैतृक सम्पतिवत् प्राप्त किया है। यदि यह हम तक न पहुँचता, यदि हम ऐसे समाज में न हुए होते, जिसमें वह फैला हुआ था, तो निस्सन्देह हम स्वयम् उसे कभी प्राप्त नहीं कर सकते थे।"

आधुनिक समय के विचारशीलों की ऐसी धारणा है कि अन्य समस्त संस्था और विचारों के समान ईश्वर ज्ञान की उत्पत्ति भी विकासवाद की सहायता से की जावे अर्थात् यह कि प्रारम्भ में कुछ अनगढ़ विचार थे और पीछे क्रमशः और लगातार उन्नति होती आई। डाक्टर फ़्लिण्ट केवल यहूदी, ईसाई और मुसलमानी मत को 'आस्तिक' मानते हैं। इन तीनों मतों का उल्लेख करते हुए मुसलमानी-मत के सम्बन्ध में लिखते हैं—

"यद्यपि मुसलमानी मत सबसे पीछे प्रकट हुआ तथापि वह सब से कम उन्नत और सबसे कम परिपक्व है। ईश्वर के विचार को जिसे उसने दूसरों

1 फ्लिण्ट पुस्तक, पृ० २०

से लिया था उन्नत और अभ्युदित बनाने के बदले उलटा दूषित और अस्तव्यस्त कर डाला।"[1]

मि० ग्रान्ट एलिन Mr. Grant Allen विकासवाद के पूर्ण पक्षपाती होते हुए भी ईसाई मत के सम्बन्ध में ऐसी ही सम्मति प्रकट करते हैं कि ईसाईयों ने ईश्वर सम्बन्धी विचार यहूदियों से लेकर उसे बिगाड़ डाला। वे कहते हैं—"ईसाइयों ने महत्वपूर्ण यह विचार यहूदियों से लिया और उचित शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पुत्र और पवित्र आत्मा को मिलाकर उस विचार को ईसाइयों ने बिगाड़ दिया, क्योंकि ऐसा करने से यहूदियों के ईश्वर की एकता भ्रष्ट हो गई।"[2]

पाँचवें अध्याय के दूसरे और चौथे अध्याय के पाँचवें अंश में हम दिखा चुके हैं कि 'परमेश्वर का विचार' वेदों से ज़न्दावस्ता और ज़न्दावस्ता से बाइबिल में जाने से कुछ उन्नत नहीं हुआ, उलटा बिगड़ गया।

प्रो० मैक्समूलर अपने 'ग्रन्थ भाषा-विज्ञान' Science of Language में धर्म के इतिहास की इस विचित्र बात पर इस प्रकार लिखते हैं—"मेरा विश्वास है कि जितना हम पीछे को हटते हैं और जितने हम हरएक धर्म के सब से प्राचीन मूल की जाँच करते हैं उतना ही अधिक शुद्ध ईश्वर सम्बन्धी विचार और हर एक नये धर्म के संस्थापक का उतना ही अधिक शुद्ध ईश्वर सम्बन्धी विचार और हरएक नये धर्म के संस्थापक का उतना अधिक शुद्ध भाव हम पावेंगे।"[1] विकासवाद के मानने वाले इन घटनाओं का किस प्रकार समर्थन करेंगे जो उनके सिद्धान्तों में सर्वथा प्रतिकूल हैं ?[2]

---

1 Flint's Theism, p. 44,

2 Evolution of the Idea of God, p. 14.

1 Science of Language, Vol. II, p. 467.

2 परमेश्वर के विचार के सम्बन्ध में हम विकासवाद का इन अर्थों में विरोध नहीं करते कि काल की गति और सदैव उन्नतिशील ज्ञान के द्वारा हमें ईश्वरीय गुणों को उत्तरोत्तर अधिक समझने की योग्यता प्राप्त होती जाती है। यहाँ हम डॉक्टर फ्लिण्ट के (Theism) से कुछ शब्द उद्धृत करते हैं :—

"सहस्रों वर्ष पूर्व ऐसे मनुष्य थे जो बहुत साधारण शब्दों में कहते थे कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। ईश्वर पर विश्वास रखने वाला मनुष्य इस बात को

जैसाकि पूर्व कहा जा चुका है हमें दो बातों में से एक स्वीकार करनी पड़ेगी अर्थात् या तो यह मान लिया जावे कि वैदिक ऋषियों पर ईश्वर के ज्ञान का प्रकाश हुआ, अथवा इस पर विश्वास किया जावे कि उन्होंने बिना किसी सहायता के ऐसे धर्म और फ़िलासफ़ी घड़ ली जो विशुद्ध और पूर्ण है, साधारण और महान है, सत्य और युक्तियुक्त है जिससे दूसरे धर्मों के प्रवर्त्तक तथा आचार्यों ने अपने धार्मिक विचारों को लिया, जिसके द्वारा किसी न किसी रूप से मनुष्यमात्र के ऊपर प्रकाश और शाँति का प्रचार हुआ, जिसने अन्धकार में मनुष्य को मार्ग दिखाया, भय में शक्ति प्रदान की और दुःख में सान्तवना दी। हमको यह न भूलना चाहिये कि ये ऋषि लोग, जैसा कि सब ही जानते हैं अति प्राचीन और प्रारम्भिक समय में हुये थे, जब कि मानव जाति अपनी बाल्यावस्था में थी। यह बात हम पाठकों पर ही छोड़ देते हैं कि उपर्युक्त दोनों बातों में से जो अधिक युक्ति-संगत हो उसे वे स्वीकार करें। उनकी रुचि चाहे जिधर हो परन्तु हम आशा करते हैं कि वेद को समस्त धर्मों का मूल-स्रोत सिद्ध करने के लिये पर्याप्त कथन किया जा चुका है। हमारी समझ में ऊपर की दूसरी बात को मानना धार्मिक इतिहास की गति के विरुद्ध है।

अवश्य स्वीकार करेगा कि आधुनिक ज्योतिष सम्बन्धी अन्वेषणायें उससे अधिक ईश्वर विषयक ज्ञान उत्पन्न कराती हैं, जितना कि किसी प्राचीन विद्वान् वा इबरानी लोगों को हो सकता था। बहुत समय हुआ जब मनुष्य ने परमेश्वर की बुद्धिमता पर विश्वास किया था। यह बात प्रत्येक समझदार आस्तिक को माननी पड़ेगी कि विज्ञान के अनेक आविष्कारों से मनुष्य के विचार ईश्वर के ज्ञान की महिमा के विषय में बहुत ठीक और विस्तृत हो जाते हैं, जिससे यह जानने में सहायता मिलती है कि हमारी पृथ्वी का अन्य लोकों के साथ क्या सम्बन्ध है? यह अपनी वर्तमान दशा में कैसे आई? उस पर विविध प्रकार के पौधे और जीव किस प्रकार पैदा किये गये? उनके द्वारा वह किस प्रकार सुमज्जित और उन्नत हुई? ये किस प्रकार विकसित और विभाजित हुए? उनकी आवश्यकतायें किस प्रकार पूर्ण की गई?" (पृ० ५४-५५) डॉक्टर फिलण्ट स्वीकार करते हैं कि—"मेरा यह विश्वास नहीं कि हम ईश्वर के सम्बन्ध में कोई नवीन सत्य खोज सकेंगे" विकासवाद पहिले बीज वा अंकुर का होना मानता है, ये ही ज्ञान के अंकुर या बीज हम वेदों में पाते हैं।

इस सम्बन्ध में ईसाई पादरी, फ़िलिप साहब Maurice Philips of London Mission, Madras के उस व्याख्यान में से कुछ उदाहरण देना अनुचित न होगा जो उन्होंने - वेदों की शिक्षा विषय पर सन् १८६३ में दक्षिण अमेरिका, शिकागो की धार्मिक महासभा Parliament of Religions में दिया था। वे कहते हैं :—

"हम देख चुके हैं कि वरुण की स्तुति में आर्यों के ईश्वर का उससे ऊँचा विचार और पाप का अधिक से-अधिक गहरा नैतिक भाव पाया जाता है।" वे आगे लिखते हैं :—

"यह स्पष्ट है कि (१) वैदिक धर्म के मूल तक जितना ऊँचा हम अपनी खोज को ले जाते हैं उतना ही शुद्ध और सरल ईश्वर का विचार हमको मिलता है (२) और जितना-जितना समय की धारा के नीचे की ओर हम आते हैं उतना ही बिगड़ा हुआ और जटिल वह विचार पाया जाता है। इसलिए हम ये परिणाम निकालते हैं कि वैदिक आर्यों ने ईश्वरीय गुण और स्वभाव का ज्ञान सांसारिक अनुभव में प्राप्त नहीं किया क्योंकि उस दशा में हमको वह बात जो आरम्भ में मिलती है अन्त में मिलनी चाहिये थी, इसलिये हमको ऐसा उत्तर ढूँढना चाहिये जिससे (आरम्भ) में वरुण जैसे ईश्वर के शुद्ध ज्ञान का और उस लगातार अवनति का भी समाधान हो जावे जिसका अन्त ब्रह्मा में पाया जाता है और यह समाधान और किस उत्तर से ऐसे अच्छे प्रकार हो सकता है जैसा इस सिद्धान्त से कि आरम्भ में ईश्वर द्वारा ज्ञान प्राप्त हुआ ?"

एच० पी० ब्लेवस्टकी के शब्दों को यहाँ हम फिर दुहरा सकते हैं कि, "आर्य सैमो, या तुरानियों में ऐसा कोई धर्म-प्रवर्त्तक नहीं हुआ, जिसने किसी नये धर्म का प्रचार या नवीन सत्य का प्रकाश किया हो। वे समस्त प्रचार करने वाले हुए हैं, मौलिक आचार्य नहीं।" फिर धर्म का असली आचार्य कौन है? "एक ईश्वर" उसके अतिरिक्त और कौन हो सकता है? ऐसा ही पतञ्जलि मुनि कहते हैं :—

"स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।"

1 The Teaching of the Vedas by Maurice Philips (Longman Green & Co.) p. 104.

"वह प्राचीन-से-प्राचीन ऋषियों का आचार्य है, क्योंकि वह काल बन्धन से मुक्त है।" (योग सूत्र १ । १ । २६)

जिन मुख्य-मुख्य धाराओं में होकर धर्म-नद निरन्तर बहकर आया है उनके किनारे-किनारे होकर हम धर्म के स्रोत की ओर चले हैं। कुरान और बाइबिल हमें ज़न्दावस्ता तक ले जाते हैं और जन्दावस्ता वेदों तक। वेदों से आगे हम नहीं बढ़ सकते। यहाँ आकर हमें ज्ञात होता है कि धर्म की धारा सदैव रहने वाले हिम में लोप हो जाती है, जो स्वर्गीय आकाश से उसके ऊपर गिरती है। तो क्या अब हमारा यह कथन ठीक नहीं है कि– "वेद ही धर्मों का आदि स्रोत है ?"

* ओम इति शम् *

पवित्र उपहार, गृह की पवित्र शोभा और सर्वोत्तम स्वाध्याय

चारों वेदों का सरल भाषा-भाष्य

१३ खण्डों में

भाष्यकार श्री पं० जयदेवजी शर्मा विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ
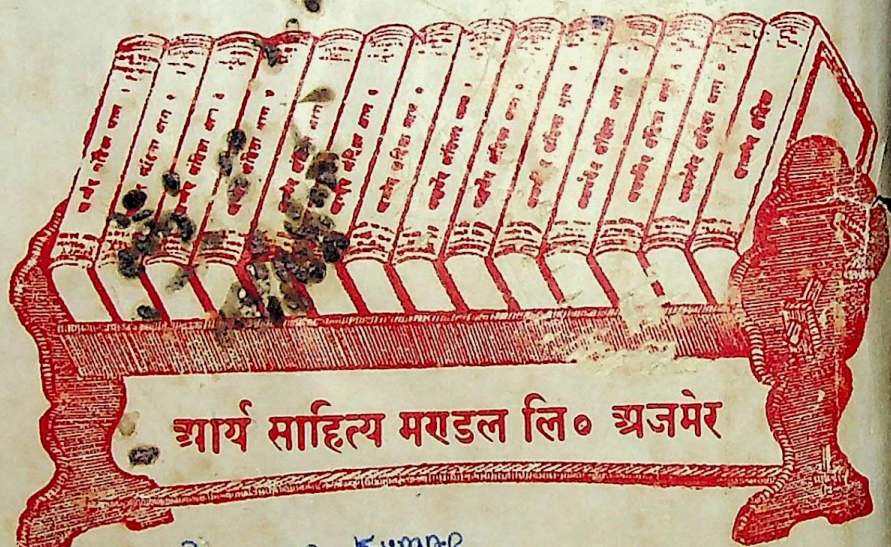
NAME - PRADEEP-KUMAR

उत्तम छपाई, सफेद चिकना कागज, १६ पेजी के सुलभ आकार में इष्ट मित्रों के लिये पवित्र उपहार, पुस्तकालयों और घरों की आलमारियों का सुन्दर भूषण, विवाहों और अन्य धार्मिक अवसरों पर देने के लिये आदर्श भेंट, छात्रों के लिये पवित्र पारितोषिक, नित्य आत्मिक आनन्द तथा पुण्य कर्तव्य पालन करने का अपूर्व साधन।

पूर्ण विवरण सूचीपत्र मुफ्त मंगाकर देखें।